मास्टर ऑफ सोशल वर्क
(M.S.W.)
प्रथम वर्ष

मानव अभिवृद्धि एवं विकास
(Human Growth & Development)
(पंचम प्रश्न पत्र)

दूरवर्ती अध्ययन एवं सतत् शिक्षा केन्द्र
महात्मा गांधी चित्रकूट ग्रामोदय विश्वविद्यालय,
चित्रकूट (सतना) म.प्र. - ४८५३३४

मानव अभिवृद्धि एवं विकास
(Human Growth & Development)

ई–संस्करण 2023–24 / M.S.W. –I - 05

प्रेरणा एवं मार्गदर्शन :
प्रो. भरत मिश्र
कुलपति
महात्मा गाँधी चित्रकूट ग्रामोदय विश्वविद्यालय, चित्रकूट (म.प्र.)

पाठ्यक्रम निर्माण

डॉ. अजय आर. चौरे, म0ग0चि0ग्रा0 विश्वविद्यालय चित्रकूट

पाठ्यक्रम संयोजक

डॉ. अजय आर. चौरे,

पाठ्यक्रम अभिकल्पना एवं सम्पादक मण्डल :

डॉ. कमलेश थापक डॉ. ललित सिंह

डॉ. नीलम चौरे डॉ. राजेश त्रिपाठी

मुद्रण प्रस्तुति

डॉ. सन्तोष अरसिया, उपकुलसचिव (दूरवर्ती परीक्षा)

सन्तोष राजपूत, सहायक कुलसचिव (दूरवर्ती परीक्षा)

शिवांगी त्रिपाठी

सम्पर्क सूत्र :
डॉ. कमलेश थापक, निदेशक, दूरवर्ती शिक्षा
दूरवर्ती अध्ययन एवं सतत् शिक्षा केन्द्र
महात्मा गाँधी चित्रकूट ग्रामोदय विश्वविद्यालय, चित्रकूट (म.प्र.)

दूरभाष– 07670–265460, E-mail – directordistancemgcgv@gmail.com, website : www.mgcgvchitrakoot.com

प्रकाशक :
दूरवर्ती अध्ययन एवं सतत् शिक्षा केन्द्र
महात्मा गाँधी चित्रकूट ग्रामोदय विश्वविद्यालय, चित्रकूट (म.प्र.)

प्राक्कथन...

मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम की तपोस्थली, मंदाकिनी नदी के सुरम्य तट पर स्थापित महात्मा गांधी चित्रकूट ग्रामोदय विश्वविद्यालय भारतरत्न नानाजी देशमुख के शैक्षिक चिंतन और संकल्पों की जीवंत अभिव्यक्ति है, जो म.प्र.शासन द्वारा 12 फरवरी, 1991 को विशेष अधिनियम 09, 1991 द्वारा स्थापित हुआ।

विश्वविद्यालय का ध्येय वाक्य है–'विश्वं ग्रामे प्रतिष्ठितम्' अर्थात ग्राम विश्व का लघु रूप है। विश्वविद्यालय चित्रकूट में स्थित है, जो एक प्रसिद्ध तीर्थ स्थल है। नई पीढ़ी के लिये यह स्थान आदर्श एवं प्रेरणा का केन्द्र है।

विश्वविद्यालय में कृषि, प्रबंधन, अभियांत्रिकी, लोक विज्ञान, ग्रामीण विकास एवं स्थानीय स्वशासन, लोक शिक्षा, कला, संस्कृति एवं साहित्य सहित सभी अकादमिक धारायें प्रभावी रूप में उपस्थित हैं। विश्वविद्यालय, ग्राम को समाज जीवन की मूल इकाई मानकर शिक्षण, प्रशिक्षण, शोध और प्रसार कार्यों से सर्वांगीण विकास के लिए विगत 3 दशकों से अधिक समय से समर्पित प्रयास कर ग्रामोदय से राष्ट्रोदय के संकल्प में लगा हुआ है। विश्वविद्यालय ने अपनी गतिविधियों और कार्यक्रमों के माध्यम से कौशल विकास के उन्नयन एवं प्रमाणन तथा सतत विकास लक्ष्यों की प्राप्ति में महत्वपूर्ण योगदान कर रहा है तथा शासन के सहयोगी के रूप में उल्लेखनीय भूमिका का निर्वहन कर रहा है।

प्राचीन एवं सनातन भारतीय ज्ञान की परम्परा के आलोक में आई, राष्ट्रीय शिक्षा नीति–2020 चिरवांछित जन आकांक्षाओं की सम्यक् अभिव्यक्ति है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति के युगान्तरकारी प्रावधानों को लागू करने में मध्यप्रदेश अग्रणी राज्य रहा है।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति ने नवाचारों के लिए सकारात्मक और अनुकूल वातावरण उपलब्ध कराया है। विद्यार्थियों की पठन–पाठन की स्वतंत्रता, कौशल विकास के समुचित अवसर तथा राष्ट्रीय प्राथमिकताओं के अनुसार आने वाले भविष्य के लिए तैयार करने की प्रतिबद्धता राष्ट्रीय शिक्षा नीति के प्रावधानों में स्पष्टतः दिखाई देती है।

विश्वविद्यालय ने राष्ट्रीय शिक्षा नीति के प्रावधानों को दूरवर्ती के विभिन्न पाठ्यक्रमों में अर्थपूर्ण रूप से जोड़कर इन्हें सत्र 2023–24 से पुनः संशोधित/परिवर्धित रूप में प्रारम्भ किया है। विश्वविद्यालय उच्च शिक्षा के प्रसार एवं रोजगार के अवसर बढ़ाने हेतु दूरवर्ती माध्यम से ग्रामीण क्षेत्रों में विशेष प्रयास कर रहा है। दूरवर्ती पद्धति से संचालित विभिन्न पाठ्यक्रमों में नियमित संपर्क कक्षाओं के आयोजन, उच्च शिक्षा की स्व–अध्ययन सामग्री एवं नई शैक्षिक प्रौद्योगिकी का उपयोग करते हुए शिक्षार्थी को बेहतर शैक्षणिक अनुभव प्रदान करने की व्यवस्था सुनिश्चत की जा रही है।

विश्वविद्यालय के दूरवर्ती अध्ययन एवं सतत शिक्षा केन्द्र द्वारा सत्र 2024–25 में संचालित परास्नातक, स्नातक तथा डिप्लोमा स्तरीय दूरवर्ती पाठ्यक्रमों के शिक्षार्थियों हेतु ई–स्वनिर्देशित अध्ययन सामग्री प्रस्तुत करते हुये मुझे हर्ष का अनुभव हो रहा है।
पाठ्यक्रम से जुडे सभी शिक्षार्थियों, अभिभावकों, प्रशासकों, समन्वयकों और अन्य सभी को मेरी मंगलकामनायें

प्रो. भरत मिश्रा
कुलपति

मानव अभिवृद्धि एवं विकास
(Human Growth & Development)

इकाई – 1 : मानव–विकास का जीवनकालिक परिदृश्य

इकाई – 2 : फ्रायड का मनोलैंगिक विकास सिद्धांत

इकाई – 3 : व्यक्तित्व

इकाई – 4 : दैहिक विकास

इकाई – 5 : किशोरावस्था में होने वाले परिवर्तन, विशेषताएँ एवं समस्याएँ

इकाई–1

मानव–विकास का जीवनकालिक परिदृश्य
Lifespan Perspective of Human Development

मानव–विकास की जीवनकालिक अवधारणा विकासात्मक मनोविज्ञान की आधुनिक एवं अत्यंत यथार्थवादी विचारधारा का द्योतक है। इस विचारधारा का केन्द्रीय तथ्य यह है कि गर्भ में आने के साथ ही व्यक्ति में विकास का श्री गणेश हो जाता है तथा विकास की यह लम्बी प्रक्रिया उसके भीतर जीवनपर्यन्त चलती रहती है। वस्तुतः व्यक्ति में नित्य घटित होते रहने वाले संरचनात्मक और कार्यात्मक परिवर्तनों का नाम ही विकास है, चाहे व विवृद्धि सम्बंधी हो अथवा ह्रास सम्बंधी। सामान्यतः ऐसा माना जाता है कि जीवन के पूर्वाद्ध में उत्पन्न होने वाले परिवर्तन मुख्य रूप से रचनात्मक होते हैं क्योंकि उनके कारण मानव–शिशु विकास क्रम में उत्तरोत्तर न केवल शारीरिक परिपक्वता बल्कि मनोवैज्ञानिक क्षमताओं से भी परिपूर्ण होता जाता है इसके विपरीत जीवन के उत्तरार्द्ध में घटित होने वाले परिवर्तन विशेष रूप से व्यक्ति के लिए हास्यात्मक होते हैं, क्योंकि वह आयु वृद्धि के साथ–साथ अपनी समस्त दैहिक मानसिक क्षमताओं में गिरावट का अनुभव करने लगता है।

जीवनकालिक अथवा जीवनपर्यन्त होते रहने वाले विकास को अंग्रेजी भाषा में Lifelong, lifetime या Lifepan development कहा जाता है। इस क्षेत्र के विशेषज्ञों का विश्वास है कि व्यक्ति का विकास सम्बंधी गतिविधियों पर अकेले किसी एक अवस्था का अधिक प्रभाव नहीं पड़ता। बाल्यावस्था और किशोरावस्था की ही भांति मध्यावस्था और वृद्धावस्था भी अपनी विशिष्टताओं के कारण व्यक्ति के लिए महत्वपूर्ण अवस्थायें मानी जाती हैं। वस्तुतः जीवन का विकासात्मक इतिहास समस्त अवस्थाओं को समाहित किये बिना पूर्ण नहीं माना जा सकता, स्पष्ट है कि जीवनकालिक विकासात्मक मनोविज्ञान गर्भाधान से लेकर जीवन के अन्त तक की सभी अवस्थाओं और उनमें उत्पन्न होने वाले सभी परिवर्तनों का विस्तृत परिदृश्य प्रस्तुत करता है। मानव विकास को केवल एक या दो अवस्थाओं की कहानी नहीं माना जा सकता।

जीवनकालिक विकास परिदृश्य के मुख्य बिन्दु :–

1. मानव विकास की वास्तविक गतिविधियों की जानकारी तभी सम्भव है, जब सम्पूर्ण जीवन प्रसार को एक इकाई मानकर विकास की समस्त अवस्थाओं का गहराई से अध्ययन किया जाए।

2. मानव विकास की प्रत्येक अवस्था में एक निश्चित सीमा तक विवृद्धि और हास दोनों ही प्रकार के परिवर्तन घटित होते रहते हैं।

3. व्यक्ति के विकास पर देश, काल एवं सामाजिक, सांस्कृतिक दशाओं और स्वयं व्यक्ति के निजी अनुभवों का व्यापक प्रभाव पड़ता है। इसलिए मानव विकास के सन्दर्भ में सामान्यीकरण करना कठिन कार्य है।

4. बालकों और वृद्धों के प्रति परिवार और समाज द्वारा उदारवादी दृष्टिकोण अपनाये जाने के कारण अब बाल्यावस्था और वृद्धावस्था मनोवैज्ञानिक शोध का अत्यंत रूचिकर विषय बन गई है।

विकास के नियम :–

सम्पूर्ण विकास प्रक्रिया का अवलोकन करने से पता चलता है कि विकास के अनेक नियम होते हैं। उन्हीं नियमों के अनुसार विकास में विविध प्रकार के व्यवहार सम्बन्धी परिवर्तन घटित होते रहते हैं। विकासशील बालक में होने वाले परिवर्तनों के समुचित ज्ञान के लिए विकास के नियमों की पूरी जानकारी आवश्यक है। व्यवहार के पूर्णकथन और नियन्त्रण की दृष्टि से भी विकास प्रक्रिया की सीमाओं को भलिभांति जान लेना श्रेयस्कर माना जाता है। नीचे विकास के प्रमुख नियमों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत है।

1. विकास एक निश्चित क्रम का अनुशरण करता है।

   क. मस्तकाधोमुखी विकास क्रम

   ख. निकट दूर विकास क्रम

2. विकास सामान्य से विशिष्ट अनुक्रियाओं की ओर चलता है।

3. विकास की गति में तीव्रता और मन्दता पाई जाती है।

4. विकास के विभिन्न स्वरूप परस्पर सम्बन्धित होते हैं।

5. भिन्न–भिन्न अंगों का विकास भिन्न–भिन्न गति से होता है।

6. विकास की प्रत्येक अवस्था अपनी प्रमुख विशेषताऐं रखती हैं।

7. विकास परिपक्वता एवं अधिगम की अन्तः क्रिया का परिणाम होता है।

8. विकास एक अविराम प्रक्रिया है।

9. विकास के सम्बन्ध में भविष्यवाणी की जा सकती है।

10. विकास में क्रांतिक अवधियां पायी जाती है।

<u>विकास की अवस्थाएँ (Stages of Development)</u>

हरलॉक ने विकास को परिभाषित करते हुए लिखा है कि विकास का अर्थ गुणात्मक परिवर्तनों से है। विकास की परिभाषा सम्बद्धतापूर्ण परिवर्तनों की प्रगतिपूर्ण श्रृंखला के रूप में दी जा सकती है। प्रगति पूर्ण का अर्थ है कि परिदर्शन दिशात्मक होते हैं तथा यह प्रष्णेन्मुख की अपेक्षा अग्रोन्मुख होते हैं। एक नवजात शिशु बैठना–उठना और चलना आदि नहीं जानता है, परन्तु जैसे–जैसे उसका विकास होने लगता है वह ये सभी क्रियायें सीख

लेता है। अतः कहा जा सकता है कि बालकों में इन क्रियाओं में प्रगतिपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। बालक में विकास सम्बंधी सभी प्रगतिपूर्ण परिवर्तन एक–दूसरे से सम्बन्धित और क्रमबद्ध होते हैं। विकास की परिभाषाओं का सारांश प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि एक ओर विकास को विवृद्धि के रूप में समझा जाता है और इसका वर्णन मात्रात्मक वृद्धि के रूप में किया जाता है। दूसरी ओर विवृद्धि को गुणज्ञत्मक परिवर्तन के रूप में किया जाता है, वे गुणात्मक परिवर्तन जो उच्च मानसिक रूपों में विभिन्न अवस्थाओं में होते हैं।

विकास एक निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया है, जिसमें कुछ नियमों के अनुसार शारीरिक और मानसिक परिवर्तन होते हैं। विकास की कुछ अवस्थायें निम्न प्रकार हैं–

विकास अवस्थाओं के द्वारा अग्रसर होता है :–

बालकों का विकास कुछ अवस्थाओं के द्वारा अग्रसर होता है। ये अवस्थाएँ विकास अवस्थाएँ कहलाती हैं। प्रत्येक विकास अवस्थाएँ कुछ अपनी प्रमुख विशेषताएँ होती हैं जो इस विकास अवस्था को दूसरी से भिन्न रखती है। इन विकास अवस्थाओं के सम्बन्ध में कहा गया है कि ''एक विकास अवस्था दूसरी विकास अवस्था से प्रमुख लक्षणों के आधार पर अलग की जाती है एक अग्रणी विशेषता जो विकास अवस्था को न्याय संगतता, एकता और अनोखापन प्रदान करती है।" जब बालक का विकास प्रतिमान सामान्य होता है तब एक विकास अवस्था बालक को दूसरी विकास अवस्था के लिए तैयार करती है, कुछ प्रमुख अवस्थाएँ निम्न प्रकार से हैं–

1. गर्भकालीन अवस्था :–

यह गर्भधारण से जन्म तक की अवस्था है। अन्य अवस्थाओं की अपेक्षा इस अवस्था में विकास की गति तीव्र होती है। इस अवस्था में अधिकांश विकास शिशु के शरीर में होते हैं। इस अवस्था की विकास प्रक्रियाओं के अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से इस अवस्था की तीन उपअवस्थाएँ हैं।

I. **बीजावस्थाः**– यह गर्भधारण से दो सप्ताह तक की अवस्था है। इस अवस्था में शिशु का आकार अण्डानुमा होता है, जिसमें बाहर कोई विशेष परिवर्तन नहीं दिखाई देता है,परन्तु अन्दर कोष्ठ विभाजन की क्रिया चलती रहती है। लगभग दस दिन तक उसे मां से कोई आहार प्राप्त नहीं होता है, परन्तु बाद में यह गर्भाशय की दीवार से जुड़ जाता है और मां से आहार प्राप्त करने लग जाता है।

II. **भ्रूणावस्थाः**– यह दो सप्ताह से आठ सप्ताह तक की अवस्था है। इस अवस्था का जीव भ्रूण कहलाता है। इस अवस्था में शरीर के मुख्य मुख्य अंगों का निर्माण होता है। दूसरे महीने के अंत तक इसका भार दो ग्राम और लम्बाई एक इंच से दो इंच तक हो जाती है। भ्रूण की बाहरी परत Ectoderm कहलाती है, जिससे त्वचा, बाल, नाड़ी मण्डल, दांत तथा नाखूनों आदि का निर्माण होता है। मध्य की परत Mesoderm कहलाती है जिससे मुख्यतः मांसपेशियों का निर्माण होता है। तीसरी परम आन्तरिक परत होती है, जो Endoderm कहलाती है जिससे पाचन अंगों, लीवर, फेंफड़े तथा ग्रन्थियों का निर्माण होता है।

III. गर्भस्थ शिशु की अवस्थाः— यह आठ सप्ताह से जन्म से पूर्व तक की अवस्था है। भ्रूणावस्था में जिन अंगों का निर्माण होता है। उन्हीं अंगों का विकास इस अवस्था में होता है। इस अवस्था में गर्भस्थ शिशु के सभी प्रमुख अंग जैसे— हृदय, फेफड़े आदि कार्य करने लगते है और यदि सात महीने का गर्भस्थ शिशु भी जन्म ले लेता है तो वह जीवित रह सकता है।

2. शैशवास्था :—

यह जन्म से चौदह दिनों की अवस्था है। इस अवस्था में शिशु को नवजात शिशु कहते है। इस अवस्था में बालक को पूर्णतः नये वातावरण में समायोजित करना पड़ता है। यह नया वातावरण माँ की गर्भ की अपेक्षा पूर्णतः भिन्न होता है।

3. बचपनावस्था :—

यह अवस्था दो सप्ताह से दो वर्ष तक ही अवस्था है। इस अवस्था के प्रारम्भ में बालक पूर्णतः असहाय होता है और अपनी आवश्यकताओं के लिए दूसरों पर निर्भर होता है, परन्तु विकास के साथ—साथ उसका उसकी मांसपेशियों पर नियन्त्रण बढ़ता जाता है और वह धीरे—धीरे आत्मनिर्भर होता जाता है। फलस्वरूप वह स्वयं खाना खाने, खेलने, चलने और बोलने जैसे व्यवहार सीख जाता है। प्रमुख संवेग इसी अवस्था में उदित हो जाते हैं।

4. बाल्यावस्था :—

यह तीसरे वर्ष के प्रारम्भ से ग्यारह बारह वर्ष तक की अवस्था है। इस अवस्था को भी अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से दो अवस्थाओं—Early childrenतथा latechildhood में बांटा गया है। लगभग छः वर्ष तक की अवस्था पूर्ण बाल्यावस्था है तथा छः वर्ष के अन्तर से 13—14 वर्ष तक की अवस्था उत्तर बाल्यावस्था है। पूर्व बाल्यावस्था में बालक अपने चारों ओर के मनोवैज्ञानिक वातावरण पर नियन्त्रण करना सीखता है तथा वह सामाजिक समायोजनों को सीखना भी प्रारम्भ करता है, इस अवस्था में जिज्ञासा तथा समूह प्रवृत्ति आदि कुछ प्रमुख विशेषताएं हैं जो बालक में पाई जाती हैं। उत्तर बाल्यावस्था लड़कियों में छः से तेरह वर्ष तक तथा लड़कों में छः से चौदह वर्ष तक होती है। इस अवधि में यौ—परिपक्वता तथा किशोरावस्था का उदय होता है। इस अवधि की मुख्य विशेषता समाजीकरण है। इस अवस्था में वह अभावों और कठोरताओं को सहन कर लेता है । वह क्रान्तिकारी भावनाओं का प्रदर्शन किशोरों की भांति कम करता है। बालक का अधिकांश समय स्कूल तथा मित्रमण्डली में व्यतीत होता है। इस प्रकार उसे जीवन की वास्तविकताओं को समझने का अवसर मिलता है।

5. वयः सन्धि :—

वयः सन्धि वस्तुतः 'बाल्यावस्था' और 'किशोरावस्था' को मिलाने वाली अवस्था मानी गई है। यद्यपि इस अवस्था का विस्तार बहुत छोटा होता है, तथापि कुछ भाग बाल्यावस्था में और कुछ भाग किशोरावस्था में पड़ जाता है। इसलिए इसे पूर्व किशोरावस्था भी कहा

जाता है। इस अवस्था की सर्वप्रथम विशेषता काम शक्ति का प्रथम उदय और तत्संबंधी इन्द्रियों की पूर्ण परिपक्वता मानी जाती है।

चूंकि यौन भिन्नता और व्यक्तिगत भिन्नता के कारण काम शक्ति का प्रथम उदय और जननेन्द्रिय की परिपक्वता भिन्न–भिन्न व्यक्तियों में अलग–अलग आयु में पायी जाती हैं और इसीलिए यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि वयः सन्धि किस प्रकार वर्ष में शुरू होती है। बालिकाओं में वयः सन्धि की अवस्था सामान्यतः ग्यारह से तेरह वर्षों के बीच शुरू होती है और बालकों में इसके एक वर्ष बाद अर्थात् बारह से चौदह वर्ष की उम्र में। इस अवस्था में होने वाले यौन संबंधी विकासों के कारण बालक अपने संवेगात्मक और सामाजिक नियंत्रण को प्रायः खो बैठता है। अन्य शारीरिक और मानसिक विकासों की गति भी इस अवस्था में बहुत तीव्र होती है।

6. किशोरावस्था

किशोरावस्था बाल्यकाल की अन्तिम अवस्था होती है। सम्पूर्ण बाल विकास में इस अवस्था का बहुत ही महत्व है। इस अवस्था का सविस्तार विश्लेषण एक पृथक अध्याय में किया गया है। अतः यही केवल संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है। किशोरावस्था प्रायः तेरह से इक्कीस वर्ष के बीच की अवस्था मानी जाती है इसके बाद परिपक्वता का क्रम प्रारम्भ होता है।

चूंकि किशोरावस्था के भीतर कुल नौ वर्ष सम्मिलित हैं और इस लम्बे काल में अनेक ऐसे प्रमुख परिवर्तन उद्भूत होते हैं जिन पर विहंगम दृष्टि डालना पर्याप्त नहींहै, इसलिये इस अवस्था को दो भागों में विभाजित कर दिया जाता है। एक को पूर्व किशोरावस्था और दूसरे को उत्तर किशोरावस्था वयः सन्धि के बाद से सोलह सत्र वर्ष की अवस्था को पूर्व कैशौर्य तथा उसके बाद से इक्कीस वर्ष की अवस्था को उत्तर–कैशौर्य कहा जाता है।

किशोरावस्था जीवन की सुनहरी अवस्था समझी जाती है। इस अवस्था की अनेक विशेषताएँ होती हैं, जिनमें दो प्रमुख हैं– सामाजिक और कामुकता। इन्हीं से सम्बन्धित अनेक परिवर्तन इस अवस्था में उत्पन्न होते हैं। यह अवस्था कई दृष्टियों से शारीरिक और मानसिक उथल–पुथल से परिपूर्ण होती है। इसे एक प्रकार से शैशव की पुनरावृत्ति का काल भी कहा जा सकता है क्योंकि इस काल में बाल्यावस्था की स्थिरता और शांति नहीं दिखलाई पड़ती, स्वभाव से भावुक होने के कारण किशोर न तो अपना शारीरिक और न मानसिक समायोजन समुचित रूप से स्थापित कर पाता है। अतः शिशु की ही भांति उसे वातावरण के साथ अपना नवीन समायोजन प्रारम्भ करना पड़ता है।

7. प्रौढ़ावस्था :–

यह इक्कीस से चालीस वर्ष तक की अवस्था है। यह कर्तव्यों, उत्तरदायित्वों और उपलब्धियों की अवस्था है। व्यक्ति अपने कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों का तभी निर्वाह कर सकता है जब जीवन की विभिन्न परिस्थितियों में उसका स्वस्थ समायोजन हो। स्वस्थ समायोजन की ही अवस्था में वह उपलब्धियों को प्राप्त कर सकता है।

8. मध्यावस्था :–

व्यक्ति के जीवन की मध्यावस्था 41 वर्ष से 60 वर्ष तक मानी जाती है। इस अवस्था में व्यक्ति के भीतर कुछ विशेष शारीरिक और मानसिक परिवर्तन देखे जाते हैं। मध्यावस्था के प्रारम्भ में ही सामान्य स्त्री पुरुष के भीतर सन्तान उत्पन्न करने की क्षमता समाप्त सी हो जाती है। इसी अवस्था में व्यक्ति के भीतर ह्रास के लक्षण दिखाई देने लगते हैं। धीरे–धीरे व्यक्ति की रूचियां भी बदलने लगती है। वह पहले से अधिक गम्भीर और यथार्थवादी हो जाता है और उसकी धार्मिक निष्ठाओं में भी दृढ़ता आने लगती है। धनार्जन के प्रति भी व्यक्ति अब प्रायः कम उत्सुक देखा जाता है। इस अवस्था में एक सामान्य कोटि का व्यक्ति सुख शान्ति और प्रतिष्ठा की इच्छुक हो जाता है। जहां तक समायोजन का प्रश्न है, इस अवस्था में पहुंच कर व्यक्ति अपने व्यवसाय से प्रायः सन्तुष्ट हो जाता है। जिन व्यक्तियों का समायोजन में अपने परिवार के सदस्यों के साथ अच्छा होता है, उन्हें मध्यावस्था और बृद्धावस्था अभूतपूर्व और अद्‌भुत मानसिक सन्तुष्टि की अनुमति होती है।

9. वृद्धावस्था :–

वृद्धावस्था जीवन की अंतिम अवस्था होती है। इस अवस्था का आरम्भ 60 वर्ष की उम्र के बाद समझा जाता है। शारीरिक और मानसिक शक्तियों का ह्रास बड़ी तीव्र गति से होता है। शारीरिक शक्ति स्वयं क्षमता तथा प्रतिक्रिया की गति में भी मंदता आ जाती है। शारीरिक परिवर्तनों के साथ ही घोर मानसिक परिवर्तन भी इस अवस्था में घटित होते हैं। बृद्धजनों की रूचियों और मनोवृत्तियों में भी महत्वपूर्ण परिवर्तन देखने को मिलता है। सामान्य बौद्धिक योग्यता रचनात्मक चिन्तन तथा सीखने की क्षमताएं भी शिथिल पड़ जाती है।

वृद्धि एवं विकास

मानव विकास की जीवनकालिक अवधारणा विकासात्मक मनोविज्ञान की आधुनिक एवं अत्यन्त यथार्थवादी विचारधारा का द्योतक है। इस विचारधारा के केन्द्रीय तथ्य यह है कि गर्भ में आने के साथ ही व्यक्ति में विकास का श्री गणेश हो जाता है तथा विकास की यह लंबी प्रक्रिया उसके भीतर जीवनपर्यन्त चलती रहती है। वस्तुतः व्यक्ति में नित्य घटित होते रहने वाले संरचनात्मक और कार्यात्मक परिवर्तनों का नाम ही विकास है, चाहे वे विवृद्धि सम्बन्धी हों अथवा हास सम्बन्धी। सामान्यतः ऐसा माना जाता है कि जीवन के पूर्वार्द्ध में उत्पन्न होने वाले परिवर्तन मुख्य रूप से रचनात्मक होते हैं, क्योंकि उनके कारण मानव–शिशु विकास कम उत्पन्न होने वाले परिवर्तन मुख्य रूप से रचनात्मक होते हैं क्योंकि उनके कारण मानव–शिशु से विकास क्रम में उत्तरोत्तर न केवल शारीरिक परिपक्वता बल्कि मनोवैज्ञानिक क्षमताओं से भी परिपूर्ण होता जाता है। इसके विपरीत जीवन के उत्तरार्द्ध में घटित होने वाले परिवर्तन विशेष रूप से व्यक्ति के लिए हासात्मक होते. हैं क्योंकि वह आयु वृद्धि के साथ–साथ अपनी समस्त दैहिक–मानसिक क्षमताओं में गिरावट का अनुभव करने लगता है।

परन्तु यह केवल एक परम्परागत अवधारणा ही है। इसके विपरीत जीवनकालिक विकासात्मक मनोवैज्ञानिक का मानना है कि जीवन के पूर्वार्द्ध की अवस्थाओं (शैशव, बाल्यकाल तथा शैशव–किशोरावस्था) में विवृद्धि के साथ हास (decline) की घटनाएं भी

जुड़ी हुई हैं। उपरोक्त अवस्थाओं में उत्पन्न होने वाली नवीन आकृतियों (new features) के साथ ही पुरानी आकृतियों (old features) का लोप हो जाता है– ऐसा हमारा सामान्य अनुभव है। दूध को दांतों का गिरना स्थाई दांतों के लिए मार्ग प्रशस्त करता है। इसी प्रकार उत्तरार्ध की अवस्थाओं (मध्यावस्था और वृद्धावस्था) में शारीरिक क्षमताओं में ह्रास के बावजूद व्यक्ति के अनुभवों में व्यापकता और गहराई दृष्टिगोचर होती है। एनिसन क्लार्क ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि दोनों प्रकार के परिवर्तन व्यक्ति के भीतर जीवनपर्यन्त साथ–साथ घटित होते रहते हैं। इसी चिन्तन बिन्दु से प्रेरित होकर आधुनिक विकासात्मक मनोवैज्ञानिक प्रौढ़ और वृद्धि व्यक्तियों में निहित मनोवैज्ञानिक विकास की सम्भावनाओं का पता लगानेमें पर्याप्त रूचि लेने लगे हैं। साथ ही बाल्यावस्था और किशोरावस्था के हासात्मक परिवर्तनों का अध्ययन भी जोर पकड़ने लगा है।

मानव–विकास की वास्तविक गतिविधियों की जानकारी तभी सम्भव है जब सम्पूर्ण जीवन–प्रसार को एक इकाई मानकर विकास की समस्त अवस्थाओं (गर्भावस्था से वृद्धावस्था तक) का गहराई से अध्ययन किया जाये।

मानव विकास की प्रत्येक अवस्था में एक निश्चित सीमा तक विवृद्धि (growth) और हास दोनों ही प्रकार के परिवर्तन घटित होते रहते हैं।

व्यक्ति के विकास पर देश, काल एवं सामाजिक सांस्कृतिक दशाओं और स्वयं व्यक्ति के निजी अनुभवों का व्यापक प्रभाव पड़ता है। इसलिए मानव विकास के संदर्भ में सामान्यीकरण करना कठिन कार्य है।

बालकों और वृद्धों के प्रति परिवार और समाज द्वारा उत्तरदायी दृष्टिकोण अपनाये जाने के कारण अब बाल्यावस्था और मनोवैज्ञानिक शोध का अत्यंत रूचिकर विषय बन गई है।

गर्भ में आने के बाद शीघ्र ही प्राणी के भीतर वृद्धि एवं विकास के लक्षण, उत्पन्न होने लगते हैं। शारीरिक और मानसिक संरचना में समय–समय पर अनेक मात्रात्मक और गुणात्मक परिवर्तन दिखाई पड़ने लगते हैं। प्राणी अपने सम्पूर्ण जीवन प्रसार में कभी भी स्थिर नहीं पाया जाता। जीवन की विभिन्न अवस्थाओं में पहुंचने पर उसके भीतर नई–नई विशेषताओं का अविर्भाव तथा पुरानी विशेषताओं का लोप होता रहता है। जीवित और सक्रिय बने रहने के लिए प्राणी के भीतर निरंतर परिवर्तनों का अविर्भाव आवश्यक है। इन्हीं शारीरिक मानसिक परिवर्तनों, गुणों तथा विशेषताओं की नियमित और क्रमिक उत्पत्ति को वैज्ञानिक शब्दावली में विकास (development) कहा जाता है। हरलॉक ने विकास संप्रत्यय को निम्नलिखित शब्दों में समझाया है

"Frvrlopmrnt refers to a progressive series of changes in an orderly and coherent pattern, it may be defined as emerging and expanding of capacities to provide greater facility for functioning."

विकास की उपर्युक्त परिभाषा में प्रयुक्त तीन पद अर्थात् Progressive, orderlyतथा 'coherent' महत्वपूर्ण है जिनको स्पष्ट करना आवश्यक है। 'Progressive orderly पद का अर्थ है– अग्रोन्मुख प्राणी में होने वाले जिन परिवर्तनों का नाम विकास है वे सदा अग्रोन्मुख होते हैं, पृष्ठोन्मुख नहीं। अर्थात् विकास में होने वाले प्राणी को पिछली अवस्था

से आगे आने वाली अवस्था में ले जाते हैं, उदाहरण के लिए, जब बच्चा पैदा होता है तो वह अपने आप से एक इंच से खिसक नहीं सकता, परन्तु विकास के ही क्रम में वह धीरे–धीरे बैठने, चलने और दौड़ने लगता है। इसलिये विकास की अग्रोन्मुख या प्रगतिशील परिवर्तन (Progressive change) कहा गया है।

विकास बनाम वृद्धि

विकासात्मक मनोविज्ञान में विकास और वृद्धि दोनों प्रत्यय प्रायः एक ही अर्थ में प्रयोग में लाये जाते हैं परन्तु इन दोनों का अर्थ अलग–अलग होता है। विकास एक व्यापक संप्रत्यय है, जबकि विवृद्धि एक विशिष्ट प्रकार के विकास की ओर संकेत करती है। संकुचित अर्थ में शारीरिक आकार (size) के बढ़ने को वृद्धि कहा जाता है। इस प्रकार प्राणी में वृद्धि गर्भाधान के दो सप्ताह बाद से प्रारम्भ होती है और बीस वर्षों के आस–पास प्रायः समाप्त हो जाती है। इस काल के बाद व्यक्ति के शारीरिक आकार की वृद्धि को विवृद्धि नहीं, बल्कि मोटाई कहा जाएगा। दूसरे शब्दों में विवृद्धि शारीरिक संरचना की ओर संकेत करती है, जबकि विकास मानसिक क्रियायों की ओर। प्राणी में विकास विवृद्धि से पहले प्रारम्भ हो जाता है ओर जीवन पर्यन्त चलता रहता है।

इन दोनों में एक मुख्य अन्तर यह भी है कि विकास रचनात्मक और ह्रासात्मक दोनों प्रकार के परिवर्तनों की ओर संकेत करता है, जबकि विवृद्धि से केवल रचनात्मक परिवर्तनों का ही बोध होता है। हरलॉक के अनुसार प्राणी में होने वाले आकार, संरचना और परिमाण संबंधी अथवा मात्रात्मक परिवर्तनों को विवृद्धि कहा जाता है, इसके विपरीत गुणात्मक परिवर्तनों को विकास की संज्ञा दी गई है। यद्यपि उक्त दोनों प्रकार के प्रत्यय परस्पर भिन्न हैं, तथापि उन्हें एक–दूसरे से भिन्न नहीं समझा जा सकता। प्राणी के भीतर मात्रात्मक एवं गुणात्मक दोनों ही प्रकार के परिवर्तन साथ–साथ घटित होते हैं। उदाहरण के लिए जब बालक के शारीरिक अवयवों में वृद्धि होती है, तो उनके भीतर पहले की अपेक्षा अधिक शुद्धता और शीघ्रता के साथ प्रतिक्रिया करने की क्षमता विकसित होने लगती है। इसी प्रकार स्मरण, अधिगम चिन्तन एवं तर्क की मानसिक क्रियाएँ भी विकसित होने लगती हैं।

आनुवंशिकता एवं परिवेश

दो व्यक्ति समान होते हुए भी एक दूसरे से भिन्न होते हैं। प्रायः बालकों का गर्भकालीन विकास समान रूप से चलता है। जन्म के समय भी दो शिशुओं में केवल उनके यौन, आकृति और रंग को छोड़कर अन्य सभी बातों में सादृश्य दिखलाई पड़ता है, परन्तु विकास क्रम में दिन प्रतिदिन उनमें परस्पर भिन्नता स्पष्ट होने लगती है। शारीरिक गुणों में ही नहीं यह भिन्नता समस्त मानसिक रचना में भी दृष्टिगोचर होती है। केवल रूप रंग में नहीं, दो व्यक्तियों के बौद्धिक स्तर, चरित्र बल, तर्क की क्षमता अभिवृत्तियों में भी अंतर पाया जाता है और उसका प्रभाव उनके व्यवहार समायोजन पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अवश्य पड़ता है। इन्हीं भिन्नताओं के कारण प्रत्येक व्यक्ति में एक भिन्न प्रकार के व्यक्तित्व का विकास होता है। परन्तु कभी–कभी दो व्यक्तियों की शारीरिक और मानसिक रचनाओं में बहुत कुछ समानता भी दिखलाई पड़ती है। रूप रंग, चाल ढाल, स्वभाव तथा चरित्र में कुछ बच्चे अपने माता–पिता के अनुरूप है। होते हैं। जुड़वां बच्चों में तो इस प्रकार का सादृश्य बहुत अधिक पाया जाता।

विद्वानों के बीच यह समस्या विवादाग्रस्त रही है कि बालकों के विकास पर आनुवांशिकता और वातावरण में से किसका प्रभाव पड़ता है। अब इस समस्या को लेकर इतना अधिक अनुसंधान हो चुका है कि अब यह प्रश्न सारहीन प्रतीत होता है। जैसा वुडवर्थ ने कहा है, यह पूछना कि किसी बालक में विकास के लिए उसकी आनुवांसिकता आवश्यक है अथवा वातावरण द्य बिल्कुल इसी प्रश्न के सामान निरर्थक है कि किसी मोटर कार के लिए पेट्रोल आवश्यक है अथवा ड्राइवर । वास्तव में विशेषज्ञ इस बात पर सहमत हो चुके हैं कि बालक के विकास और उसके विशेष गुणों के आविर्भाव के लिए उसकी आनुवांशिकता और वातावरण दोनों ही आवश्यक है। अतः इस संदर्भ में जो सबसे उपयुक्त प्रश्न उठता है वह यह है कि इन दोनों तत्वों में कौन सा तत्व बालक के विकास पर अधिक प्रभाव डालता है या बालक का कौन सा गुण आनुवांसिकता के कारण उद्‌भुत होता है और कौन–सा उसके वातावरण के कारण।

आनुवाशिकता का अर्थ

बालक को जो असंख्य शारीरिक और मानसिक गुण अपने माता–पिता और पूर्वजों से गर्भाधान के समय वीर्य और रज कणों के माध्यम से प्राप्त होते हैं उन्हें ही आनुवांशिकता या वंश परम्परा कहा जाता है। इससे यह बात स्पष्ट होती है कि गर्भाधान के बाद जिन तत्वों का प्रभाव बालक के ऊपर पड़ता है। वे आनुवांशिक नहीं अपितु वातावरण सम्बंधी होते हैं, आनुवांशिक गुण सदा जन्मजात गुण ही होते हैं। अतः आनुवांशिकता को व्यक्ति के जन्मजात गुणों का समूह कहा जा सकता है। वुडवर्थ के शब्दों में– "Heredety covers all the factors that were present in the individual when he began life at the time of conception."

अर्थात् आनुवांशिकता के अंतर्गत उन सभी तत्वों का समावेश है जो व्यक्ति के भीतर गर्भाधान के समय (जब जीवन का प्रारंभ होता है) विद्यमान होते हैं।

डिंकमेयर ने आनुवांशिकता को निम्न शब्दों में समझाया है–

"Heredity factors are innate characterstics with which the child is equipped at birth, prime factors in growth, heredity farces control the basic nature of the organism and the rate at which the organism covers the life cycle. They are the basic assets and liabilities, structural and functional, which allows the organism to use both nature in development."

अर्थात् आनुवांशिक तत्व वे जन्मजात विशेषताएं हैं जो बालक के भीतर जन्म के समय पायी जाती हैं विकास में एक तत्व प्रधान होने के कारण आनुवांशिक शक्तियों उसके मौलिक स्वभाव तथा उसके जीवन चक्र की गति को नियंत्रित करती हैं। इन्हें प्राणी की संरचना और क्रियात्मकता से सम्बन्धित सम्पत्ति एवं ऋण समझना। चाहिए, जिनकी सहायता से वह अपने विकास के लिए जन्मजात तथा अर्जित क्षमताओं का उपयोग कर पाता है, यद्यपि व्यक्ति के निर्माण में आनुवांशिकता अपना प्रभाव जन्म के पूर्व अधिकाधिक डाल देती है, फिर भी व्यक्ति के विकास को वह जीवन–पर्यन्त प्रभावित करती रहती है।

आनुवांशिकता एक ऐसी जन्मजात शक्ति होती है जो प्राणी को एक निश्चित दिशा में विकसित होने में सहायता पहुंचायी है। वही उसकी आकृति, रंग, कद, यौन, बुद्धि तथा अन्य शारीरिक और मानसिक क्षमताओं को निर्धारित करती है। वंश परम्परा की शक्ति के कारण ही मानव से केवल मानव शिशु ही उत्पन्न होता है। उसी के कारण पशु से पशु, पक्षी से पक्षी और वनस्पति से वनस्पति का अविर्भाव होता है। यदि आम और इमली के बीच पास–पास बो दिये जायें तो निश्चित रूप से आम से आम का तथा इमली से इमली का पौधा उत्पन्न होगा। जिस प्रकार किसी वृक्ष की आनुवांशिकता उसके बीज में निहित होती है उसी प्रकार गर्भाधान के समय माता–पिता के रज और वीर्यकणों में संतान की आनुवांशिकता छिपी रहती है।

वातावरण का अर्थ

प्राणी की संरचना एवं क्रियाशीलता जहां एक ओर जैविक आनुवांशिक शक्तियों द्वारा निर्धारित नियंत्रित होती हैं। वहीं भौतिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक वातावरण या परिवेश भी उसके भीतर असंख्य व्यवहारगत विशेषताओं को उत्पन्न करते हैं। वातावरण वंशानुक्रम से सर्वथा भिन्न होता है, प्राणी के विकास को प्रभावित करने वाले आनुवांशिक तत्वों को छोड़कर शेष समस्त तत्व वातावरण के ही अंग माने जाते हैं, जैसे पहले बतलाया गया है, सम्पूर्ण आनुवांशिकता बालक को गर्भाधान के समय ही प्राप्त हो जाती है। गर्भाधान के बाद जो दशाएँ उसकी विवृद्धि एवं विकास में सहायक होती हैं वे सभी वातावरण के अंतर्गत समाविष्ट हैं । वातावरण के सम्बन्ध में दो बातें विशेष रूप से ध्यान रखने योग्य हैं। पहली बात तो यह है कि वातावरण बालक को उसके जन्म के बाद नहीं जन्म के पूर्व ही गर्भाधान के समय मिल जाता है। आनुवांशिकता तो गर्भाधान के समय ही स्थापित एक नियत घटक है, परन्तु व्यक्ति का परिवेश सतत् रूप से विस्तृत होता रहता है। वातावरण के सम्बन्ध में दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि आनुवांशिक शक्तियों के प्रकाशन के लिए वातावरण की मध्यस्तता नितांत आवश्यक है। आनुवांशिकता कभी शून्य में अपना प्रभाव नहीं प्रदर्शित कर सकती। प्राणी के भीतर किसी विशिष्ट व्यवहार की उत्पत्ति एवं विकास के लिए एक सहायक और समर्थक वातावरण बहुत आवश्यक है।

पर्यावरण का संप्रत्यय एक व्यापक और विशाल संप्रत्यय है। इसके अंतर्गत गर्भस्थ जीव के रासायनिक परिवेश से लेकर परिवार पाठशाला, समाज एवं संस्कृति तक का समावेश है। केवल व्यक्ति समाज को ही वातावरण मानना संकुचित दृष्टिकोण अपनाना है। सामाजिक वातावरण के अतिरिक्त भौगोलिक या भौतिक और मनोवैज्ञानिक वातावरण भी होते हैं जिनका बालक के ऊपर उसी प्रकार प्रभाव पड़ता है जिस प्रकार सामाजिक वातावरण का। कभी–कभी व्यक्ति अपने निजी विचारों, भावनाओं, इच्छाओं और कल्पनाओं के अनुरूप एक अवास्तविक संसार में व्यवहार करता है। थोड़ी देर के वह वास्तविक तथ्यों से अनभिज्ञ सा हो जाता है। ऐसी दशा में उस व्यक्ति के लिए परिवेश के साथ स्वस्थ समायोजन स्थापित कर सकना कठिन सा हो जाता है। दिवास्वप्नों के समय व्यक्ति स्वयं को जिस वातावरण में रखता है, वह मनोवैज्ञानिक वातावरण का एक अच्छा उदाहरण है।

आनुवांशिकता एवं वातावरण की अंतःक्रिया

बालक के व्यवहार और समायोजन पर आनुवांशिकता और वातावरण के प्रभाव की समस्या मनोवैज्ञानिकों के बीच लम्बे समय तक एक विवादाग्रस्त समस्या बनी रही। इसका मुख्य कारण यह है कि वैज्ञानिकों ने इस संदर्भ में अनेक ऐसे प्रश्न उठाये जो वस्तुतः भ्रामक सारहीन और अनुपयुक्त थे। अनस्तासी ने कुछ के प्रश्नों पर प्रकाश डाला है और उलझे हुए विवाद को काफी हद तक सुलझाने का प्रयास किया है। अनस्तासी के अनुसार पहला गलत प्रश्न उठाया गया था, वह था कि बालक के विकास पर किस तत्व का प्रभाव पड़ता है—आनुवांशिकता का या वातावरण का? यह प्रश्न इसलिए निरर्थक था क्योंकि ऐसा प्रश्न उठाने वाले संभवतः मान बैठे थे कि आनुवांशिकता शक्तियों का प्रभाव बिना वातावरण की मध्यस्तता के संभव नहीं है। साथ ही परिवेश में कोई ऐसा प्राणी नहीं पाया जा सकता जो आनुवांशिकता विहीन हो। अतः किसी भी प्राणी के अस्तित्व अथवा किसी व्यवहार की उत्पत्ति के लिए दोनों ही तत्व आवश्यक है, जैसा वुडवर्थ ने कहा है, यह पूछना कि किसी बालक के विकास के लिए उसकी आनुवांशिकता आवश्यक है या वातावरण बिल्कुल इसी प्रश्न के समान सारहीन है कि किसी मोटरकार के लिए पेट्रोल आवश्यक है अथवा ड्राइवर।

इस संदर्भ में सबसे अधिक एपयुक्त प्रश्न उठाया जा सकता है वह यह होगा कि आनुवांशिकता और वातावरण किस प्रकार एक—दूसरे के साथ मिलकर बालक के भीतर किसी विशिष्ट व्यवहार को उत्पन्न करते हैं। यह अन्तिम प्रश्न इस तथ्य पर आधारित है कि व्यवहार की उत्पत्ति में आनुवांशिकता और वातावरण दोनों तत्व गुणनात्मक या अंतःक्रियात्मक रूप से कार्य करते हैं। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि बालक के भीतर किसी विशिष्ट गुण की उत्पत्ति इस बात पर निर्भर होगी कि आनुवांशिक क्षमता के प्रभाव के लिए उसे किस प्रकार का वातावरण उपलब्ध है। बिना वातावरण की अवस्थाओं से अवगत हुये हम यह नहीं बता सकते कि किसी बालक की आनुवांशिकता उसके व्यवहार पर कैसा प्रभाव डालेगी।

परिपक्वता और अधिगम

वंशानुक्रम एवं वातावरण की तरह परिपक्वता और अधिगम भी एक—दूसरे से संबंधित है। यह दोनों कारक भी विकास प्रतिमानों को महत्वपूर्ण ढंग से प्रभावित करते हैं। परिपक्वता और अधिगम के आभाव में बालक का सामान्य विकास सम्भव नहीं है। परिपक्वता और अधिगम में कौन सा कारक अधिक महत्वपूर्ण है यह अभी एक विवादास्पद विषय है।

हरलॉक : (1974) ने इस समस्या का हल निकालते हुये लिखा है कि ''साक्ष्य यह स्पष्ट करते हैं कि शारीरिक शील गुणों और मानसिक शील गुणों का विकास आंशिक रूप से वास्तविक परिपक्वता से होता है तथा आंशिक रूप से व्यक्ति के अभ्यास और प्रयास से होता है।''

परिपक्वता का अर्थ : बाल विकास के क्षेत्र में सर्वप्रथम गेसेल ने ''परिपक्वता'' शब्द का प्रयोग किया। गैसेल ने परिपक्वता के अर्थ को स्पष्ट करते हुये कहा है कि परिपक्वता शरीर की आंतरिक अवस्था के कारण उत्पन्न स्नायुओं और मांसपेसियों की प्रौढ़ता और दृढ़ता है जिस पर बाह्य वातावरण का प्रभाव नहीं पड़ता है।

आइजनेक और उनके साथियों के अनुसार : ''परिपक्वता शारीरिक, मनोवैज्ञानिक और मानसिक विभेदीकरण और एकता की यह स्वतंत्र प्रक्रिया है जो विकासात्मक अवस्थाओं में फैली हुई होती है। इस प्रक्रिया के परिणामस्वरूप ही शारीरिक, मानसिक, अध्यात्मिक और सामाजिक रूप से जीव की विवृद्धि पूर्ण और सुद्रढ़ होती है तथा इस प्रकार वह जीव अपने जीवन में अनुकूलन करता है।'' अधिगम में परिपक्वता का बहुत अधिक महत्व है। उदाहरण के लिए यदि एक डेढ़ वर्ष के बालकों को ट्रायसिकल चलाना कितना भी क्यों न सिखया जाये वह ट्रायसिकिल चलाना नहीं सीख पायेगा क्योंकि इस कौशल के लिए बालक में डेढ़ वर्ष की अवस्था तक परिपक्वता नहीं आ पाती, लगभग तीन वर्ष के बालक में उतनी शारीरिक और मानसिक परिपक्वता आ जाती है कि वह थोड़ी सी सहायता से ही ट्रायसिकिल चलाना सीख लेता है।

परिपक्वता पर कुछ अध्ययन :–

परिपक्वता और अधिगम की समस्या को लेकर अध्ययन हुए हैं। इनमें से कुछ अध्ययन परिपक्वता समस्या पर किये गए हैं, इनमें अधिकांश प्रारम्भिक अध्ययन से किये गए हैं, इन अध्ययनों से मानव शिशुओं पर किये गये कुछ अध्ययन निम्न हैं–

गेसेल और थाप्सन :–

गेसेल और थाप्सन ने दो जुड़वा बालिकाओं पर अभ्यास और परिपक्वता के प्रभाव का अध्ययन किया।

गेसेल – गेसेल ने अपने अध्ययन में तीन प्रकार के बालक चुने, पहले प्रकार के बालक इस सप्ताह के थे इन तीनों आयु के बालकों को क्रमशः एक हवादार कमरे में रखकर उनमें उत्पन्न भय का अध्ययन किया गया। गेसेल ने अपने अध्ययन में देखा कि दस सप्ताह के बालकों में किसी प्रकार का भय नहीं था जबकि बीस सप्ताह के बालकों ने बेचैनी और घबराहट का अनुभव किया तथा तीस सप्ताह के बालकों को जब भय की परिस्थित में रखा गया तो उन्होंने व्याकुलता और रोने चिल्लाने जैसी व्यवहार का प्रदर्शन किया।

मैकग्रा : (N.B. Mc Grow 1935) ने दो जुड़वा बालकों– जॉनी और जिमी का अध्ययन किया, उसने अपने अध्ययन में परिपक्वता और अधिगम के सापेक्षिक प्रभाव का अध्ययन किया। जॉनी को दो प्रकार की क्रियाओं का अध्ययन कराया गया, प्रथम प्रकार की क्रियाएँ जातिगत थीं, इन क्रियाओं में रेगना, घुटनों के बल चलना, बैठना, खड़े होकर चलना आदि। जॉनी को इन दो प्रकार की क्रियाओं का प्रतिदिन अभ्यास कराया जाता था तथा जिमी को एक परदे के पीछे रखा जाता था, प्रशिक्षण के बाद दोनों जुड़वा बालकों की कार्यों की तुलना की गई, पाया गया कि जातिगत कार्यों में तो दोनों जुड़वा बालकों में क्रियाएँ समान थी परन्तु व्यक्तिगत कार्यों में जॉनी जिमी से श्रेष्ठ था, स्पष्ट है कि अभ्यास का प्रभाव केवल व्यक्तिगत क्रियाओं पर ही पड़ता है, जातिगत क्रियाओं पर नहीं इस अध्ययन में यह भी देखा गया कि परिपक्वता के आभाव पर अभ्यास का कोई लाभ नहीं है।

<u>अधिगम</u> :–

अर्थ – सीखना आधुनिक काल मनोविज्ञान की एक अति महत्वपूर्ण समस्या है। इसका क्षेत्र बहुत अधिक विस्तृत है। इसमें बालकों के अनुबंधन से लेकर समस्या समाधान तक की सभी समस्याओं का अध्ययन किया जाता है। सीखने की क्रिया बालकों एवं वयस्कों के व्यवहार और मानसिक क्रियाओं के अनेक पहलुओं को प्रभावित करती है।

मैक्गो के अनुसार – ''अभ्यास के कारण कार्य निष्पादन में परिवर्तन ही अधिगम है।''

हिल्गार्ड तथा एटकिन्सन के अनुसार– ''सीखने को अभ्यास के व्यवहार में सापेक्ष स्थाई परिवर्तन के रूप में परिभाषित किया जा सकता है।''

परिपक्वता और अधिगम

बालक के शारीरिक और मानसिक विकास की परिपक्वता और अधिगम दोनों ही कारक महत्वपूर्ण ढंग से प्रभावित करते हैं। दोनों ही क्रियाओं में कुछ प्रमुख अन्तर निम्न प्रकार से हैं–

1. परिपक्वता के कारण व्यवहार में परिवर्तन प्रजातीय होते हैं जबकि सीखने के कारण व्यक्ति को कई तरह की क्रियाएँ करनी पड़ती हैं। जबकि व्यवहार का संशोधन होता है।

2. परिपक्वता के कारण व्यवहार में परिवर्तन प्रजातीय होते हैं जबकि सीखने के कारण व्यवहार में परिवर्तन के कारण व्यवहार में परिवर्तन केवल उसी व्यक्ति में होते हैं जो सीखता है।

3. परिपक्वता के लिए अभ्यास आवश्यक नहीं है जबकि सीखने के लिए अभ्यास आवश्यक है।

4. समाज में व्यक्ति जीवन पर्यन्त सीखता रहता है, जबकि परिपक्वता की प्रक्रिया लगभग 25 वर्ष की अवस्था तक पूर्ण हो जाती है।

मैक्ग्रा (1935) : मैक्ग्रा का विचार है कि ''परिपक्वता और अधिगम दो परस्पर प्रक्रियाऐं नहीं है यह केवल विकास की मौलिक प्रक्रिया के ही पक्ष में हैं।'' परिपक्वता और अधिगम दोनों के पारस्परिक संबंध थे स्पष्ट करते हुए डेलगार्ड 1932 में लिखा है। प्रभावशाली विकास के लिए अधिगम और परिपक्वता दोनों ही एक विवाहित जोड़े के समान साथ–साथ चलने वाले कारक हैं यह दोनों ही एक–दूसरे को अपना सहयोग प्रदान करते हैं।

परिपक्वता और अधिगम की समस्या को लेकर मनोवैज्ञानिकों में दो वर्ग हैं। पहले वर्ग के मनोवैज्ञानिक परिपक्वता को अधिक महत्व देते हैं और यह मानते हैं कि है बालक के विकास में परिपक्वता अधिक महत्वपूर्ण है।

गेसेल : गेसेल का विचार है कि ''वातावरण सम्बन्धी कारक सहायता करते हैं प्रभाव डालते हैं तथा परिमार्जित करती हैं लेकिन वह विकास की उन्नति को उत्पन्न नहीं कर पाते हैं।''

गेसेल के इस कथन से स्पष्ट है कि वातावरण सम्बन्धी कारक बालकों में किसी भी प्रकार के विकास की प्रक्रिया को प्रारंभ नहीं कर सकते हैं, केवल उसे तीव्र कर सकते हैं या केवल कुछ परिवर्तित कर सकते हैं। दूसरे वर्ग के मनोवैज्ञानिकों में कारमाइकेल और उनके सहयोगी मनोवैज्ञानिक हैं। इन मनोवैज्ञानिकों ने बालकों के विकास में वातावरण और अधिगम जैसे कारकों को महत्व दिया है।

हरलॉक (1972) : का विचार है कि ''विकास वंशानुक्रम के उपहार तथा वातावरण के सामाजिक तथा सांस्कृतिक बलों की अंतःक्रिया पर आश्रित होता है। परिपक्वता अधिगम के लिए कच्चा माल प्रदान करती है तथा काफी हद तक यह निर्धारित करती है कि बालक के व्यवहार के प्रतिमान और व्यवहार के क्रम क्या होंगे।'' ऊपर दिये हुए विवरण से यह भी स्पष्ट नहीं है कि अधिगम परिपक्वता पर आधारित होती हैं, परिपक्वता अधिगम पर नहीं। परन्तु जहां विकास प्रतिमानों काप्रश्न उठता है, वहां अधिगम अभ्यास प्रशिक्षण और वातावरण जैसे कारकों के प्रभाव को कमजोर नहीं समझा जा सकता।

एक अध्ययन में यह देखा गया कि भिन्न भिन्न आयु के बालकों की अधिगम मात्रा और अधिक मात्रा में अन्तर गति का सम्बन्ध मुख्यतः अधिगम प्रक्रिया की जटिलता और बालकों के परिपक्वता के स्तर से है। परिपक्वता और अधिगम समस्या की द्विभाजिता का समाधान करते हुए जरसील्ड और उनके साथियों ने लिखा है कि ''यदि यह कहा जाये कि व्यवहार की एक विशेषता विशेष अधिगमित है तो उसका अर्थ यह नहीं कि जीन्स और परिपक्वता की इसमें भूमिका नहीं हैं। इसी प्रकार यह सत्य है कि गर्भधारण की युवावस्था तक व्यक्ति का विकास अनेक कारकों की अंतःक्रिया का परिणाम है'' यह कारक है– विशिष्ट जनकीय कारक गर्भावस्था की विकासात्मक अवस्थाएँ।

इकाई–2

फ्रायड का मनोलैंगिक विकास के सिद्धान्त थे फ्रायड का मनोलैंगिक विकास सिद्धान्त
(Fraud's theory of Psychosexual Development)

मानव विकास के सन्दर्भ में सिगमण्ड फ्रायड के सिद्धांत की मूलभूत अवधारणा यहहै कि किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व विकास पर उसके भीतर पायी जाने वाली कामशक्ति का व्यापक प्रभाव पड़ता है। फ्रायड ने इस काम शक्ति को लिबिड़ो (Libido) की संज्ञा दी। यह वह शक्ति है जो व्यक्ति को जीवनपर्यन्त सक्रिय बनाए रखती है।

फ्रायड के अनुसार वह काम शक्ति जीवन के प्रारम्भ से ही विद्यमान होती है। जिसका प्रकाशन एवं प्रदर्शन भिन्न–भिन्न अवस्थाओं में भिन्न–भिन्न होता है। व्यक्ति के भीतर कामुकता और व्यक्तित्व का विकास साथ–साथ चलता है।

फ्रायड ने व्यक्ति के मनोलैंगिक विकास की 5 अवस्थायें फ्रायड – ने व्यक्ति के मनोलैंगिक विकास की पांच अवस्थाओं का उल्लेख किया, जो निम्नलिखित हैं–

(1)मुखीय अवस्था (Oral Stage)– बाल्यकालीन कामुकता की प्रथम (0–1) वर्ष अवस्था होती है इस अवस्था में कमुकता लिबिड़ों के मुख के क्षेत्र में केन्द्रित होती है। इस अवस्था में बालक काम सम्बन्धी आनन्द अपने मुंह से माता का स्तनपान कर और कभी उसके स्तन को दांत से काटकर प्राप्त करता है। यदि बालक को सुख द्वारा आनन्द प्राप्त करने का बहुत अधिक अवसर मिलता है तो उसके भीतर भविष्य में इस प्रकार की प्रगल प्रवृत्ति विकसित हो जाती है। इस स्थिति की प्रगल प्रवृत्ति विकसित हो जाती है। इस स्थिति को फ्रायड ने स्थितिकरण (fixation) कहा है।

(2)सुदीय अवस्था (Anal Stage) (1–3 लमंत) – जीवन के दो वर्षों (1–3) वर्षों को फ्रायड ने सुदीय अवस्था कहा है। जब बालक की स्थिति या कामशक्ति मुख से हटकर गुदा के क्षेत्र में केन्द्रित हो जाती है तब बालक गुदा के उद्दीपन होने और मलविसर्जन द्वारा आनन्द का अनुभव करते हैं।

(3) लैंगिक अवस्था (Phallic stage) (3–5 year) – इस अवस्था में काम शक्ति बालक की ज्ञाननेन्द्रियों में केन्द्रित हो जाती है और वह ज्ञाननेन्द्रियों के उद्दीपन से लैंगिक आनन्द की अनुभूति करता है। बालक के माता–पिता ही उसकी काम वासना के पात्र बन जाते हैं। इस अवस्था में बालक अपने बाप तथा बालिका अपने मां की तरह बनना चाहती है इस अवस्था के बालक में इडिपस ग्रन्थि विकसित होती है और बालक अपनी मां का प्रेमी बन जाता है और बालिका अपने बाप के प्रति प्रदर्शित करती है।

(4) अदृश्यावस्था (Latency stage) (6–12 year) – इस अवस्था में बालक की कामशक्ति अदृश्य सी हो जाती है। यह शरीर के किसी भाग में केन्द्रित हो जाती है।

बालक इस अवस्था में अन्तर्मुखी हो जाता है। अब बालक का व्यवहार यथार्थवादी सिद्धान्त (reality) द्वारा निर्देशित होता है। इस अवस्था बालक बाहर रहना पसंद करता है। बालक बालकों की टोली में तथा बालिका बालिकाओं की टोली में रहना पसंद करती है। बालक–बालिकाऐं एक–दूसरे को इस अवस्था में तंग करते हैं।

(5) जननेन्द्रिय अवस्था (Genital stage) (12–18 year)– मनोलैंगिक विकास की अन्तिम अवस्था में काम शक्ति बालक की ज्ञाननेन्द्रिय में केन्द्रित हो जाती हैं। जिसका उपयोग वह विपरीत यौन समागम एवं सन्तानोत्पत्ति हेतु करता है। इस अवस्था में बालक–बालिकाओं के भीतर एक बार फिर कामचेतना का जागरण होता है। इस अवस्था में माता–पिता के प्रति काम सम्बन्ध का प्रदर्शन चूंकि सम्भव नहीं होता, इसलिए वह विपरीत लिंग के किसी न किसी सदस्य को अपनी पसंद बना लेता है।

फ्रायड का मनोलैंगिक विकास सिद्धान्त अवस्था सिद्धान्त (Stage Theory) कहा जाता है क्योंकि उन्होंने विकास की विभिन्न अवस्थाओं का उल्लेख किया है। फ्रायड की ही भांति एरिक्सन, पियाजे, कोलबर्ग के सिद्धान्त भी अवस्था सिद्धान्त माने जाते हैं

एरिक्सन के मनोसामाजिक विकास के सिद्धान्त :–

सिगमण्ड फ्रायड की भांति व्यक्तित्व विकास का एक दूसरा मनोविश्लेषण सिद्धान्त एरिक्सन द्वारा प्रतिपादित किया है। किन्तु जहां फ्रायड के मनोलैंगिक सिद्धान्त कहा जाता है। एरिक्सन का मनोसामाजिक सिद्धान्त के नाम से विख्यात हुआ। एरिक्सन के व्यक्तित्व सिद्धान्त का केन्द्रीय तथ्य यह है कि बालक में मनोलैंगिक विकास के साथ–साथ मनोसामाजिक प्रक्रिया चलती रहती है। उन्होनें ऐसी आठ–अवस्थाओं का उल्लेख किया गया है।

मनोसामाजिक विकास की अवस्थाऐं :–

1.	2 वर्ष तक	विश्वास (Trust)	अविश्वास (Mistake)
2.	3 से 4 वर्ष	स्वतंत्रता (Autonomy)	संदेह (Doubt)
3.	5 से 6 वर्ष	आत्मबल (Initiative)	अपराधभाव (Gailt)
4.	7 से 12 वर्ष	परिश्रम (Industry)	हीनता (Intrciority)
5.	13 से 18 वर्ष	पहचान (Intimancy)	भूमिका द्वन्द (Role conthi)
6.	19 से 35 वर्ष	घनिष्ठता (Identity)	अलगाव (Isalation)
7.	36 से 55 वर्ष	उत्पादकता (Generativity)	निष्क्रियता (stagena)
8.	55 से ऊपर	ईमानदारी (Integrity)	निराशा (Despair)

(1) विश्वास–अविश्वास की अवस्था :–

जन्म के दो वर्ष तक बच्चा अपनी आवश्यकताओं के लिए पूर्णतः अपने माता–पिता पर निर्भर होता है। मां–बाप तथा परिवार के अन्य सदस्य जिस ममता, स्नेह और प्यार के साथ उसके साथ पेश आते हैं अर्थात उन्हें खिलाते, पिलाते, चूमते, चाटते और उनके साथ हंसते–बोलते हैं। उससे बच्चे के भीतर उन लोगों के प्रति विश्वास का विकास होता है। किन्तु जब बच्चा अपने परिवार वालों से प्यार–दुलार के स्थान पर घृणा और कठोरता का व्यवहार पाता है तो उसके मन में अविश्वास विकसित होने लगता है।

उदाहरण के लिए एक बालक जो अविश्वास की भावना लेकर पाठशाला में प्रवेश करता है, वह कुछ के गुरूजनों के प्रति विश्वास विकसित कर सकता है। वह इस प्रकार धीरे–धीरे पुराने अविश्वास को त्याग सकता है। यही बात उस बालक के लिए भी कही जा सकती है जो विश्वास का भण्डार लेकर विकास की नई अवस्था में प्रविष्ट होता है। ऐसा बालक कुछ स्वार्थी लोगों के सम्पर्क में आता है, उस बालक पर अविश्वास विकसित हो जाता है।

(2) स्वतन्त्रता–सन्देह की अवस्था :–

तीन–चार वर्ष की अवस्था में बालक अपने सामाजिक वातावरण को अच्छी तरह समझने लगता है और स्वतन्त्रता पूर्वक व्यवहार होने लगता है। अपनी दिनचर्या के बहुत से कार्य वह स्वयं करने के लिए स्वतन्त्रता महसूस करता है। यदि परिवार के अन्य सदस्य बालक द्वारा किए गए कार्यों से संतुष्ट होकर उसकी प्रशंसा करते हैं तो बालक के भीतर आत्मविश्वास की वृद्धि होती है। परन्तु यदि वह अपनी दिनचर्या में सफल नहीं होता तो लोग इसे बुरा–भला कहने लगता है। इस दशा में बालक अपने ऊपर या क्षमताओं पर सन्देह करता है।

(3) आत्मबल–अपराध भाव की अवस्था :–

5–6 वर्ष की इस अवस्था में पहुंचकर बालक जिज्ञासु हो उठता है। वह अपने आत्मबल के कारण अनेक जिम्मेदारियों के कार्य की पहल करता है। जब बालक द्वारा किए गए कार्यों का दूसरे का समर्थन प्राप्त होता है तो इसके भीतर आत्मबल या पहल की शक्ति दृढ़ होती है। किन्तु जब दूसरे सदस्य उसकी पहल को अच्छा नहीं मानते तो उसके मन में अपराध की भावना (Seeling of guilt) विकसित होने लगती है और वह अपने को दोषी समझने लगता है।

(4) परिश्रम–हीनता की अवस्था :–

इस अवस्था का बालक अपने मित्रों (peers) के साथ तादात्म्य (identification) स्थापित करता है। अन्य मित्रों की ही भांति बालक परिवार तथा पाठशाला में अधिक से अधिक कार्य करना चाहता है और इस प्रकार मेहनती बनता है। एरिक्सन के अनुसार हर समाज में इस अवस्था में नए–नए कार्यों को सीखने का अवसर दिया जाता है। जिससे बालक प्रौढ़ जीवन के लिए आवश्यक कौशलों से सुसज्जित हो जाए। हमारे समाज में इस अवस्था का बालक पाठशाला भेजा जाता है, किन्तु अन्य समाजों में वह खेती में काम करता है या मछली आदि का शिकार करना सीखता है।

(5) पहचान–भूमिका द्वन्द की अवस्था :–

यह 13 से 18 वर्ष की किशोरावस्था होती है। इस अवस्था में प्रवेश पाने के बाद बालक अच्छी तरह से जानने लगता है कि वह कौन है और इसके लक्ष्य क्या है। अब वह अपनी पसंदगी और नापसंदगी भी निश्चित कर लेता है वह अपनी क्षमताओं के अनुरूप अपना कार्यक्षेत्र विचार–शैली मित्र–मण्डली, व्यवसाय आदि का चयन कर उसी दिशा में बढ़ने लगता है। अब वह समाज में अपनी भूमिका को निश्चित करता है, किन्तु ऐसे बालक ऐसे भी होते हैं जिन्हें समझ में नहीं आता कि समाज में उन्हें क्या भूमिका निभानी है। फलस्वरूप उसके भीतर कई भूमिकाओं के बीच द्वन्द (role conslict) चलता रहता है और वे अनिश्चितता की स्थिति में आ जाते हैं।

(6) घनिष्ठता–अलगाव की अवस्था :–

इस अवस्था में बालक प्रौढ़ होकर वास्तविक जीवन में प्रवेश करता है। अब वह जीवनयापन के लिए किसी व्यवसाय या रोजगार को अपनाता है और विवाहित होकर गृहस्थ जीवन प्रारम्भ करता है और पारिवारिक दायित्वों का वहन करता है। इस अवस्था की विशेष अपेक्षा यह होती है कि पति–पत्नी एक–दूसरे के साथ घनिष्ठता प्रदर्शित करती है। जो व्यक्ति अपने परिवारजनों के प्रति घनिष्ठता नहीं प्रदर्शित कर पति, उनके मन में पृथकता या अलगाव की भावना विकसित होने लगती है। इस अलगाव की भावना के कारण ही हमारे समाज में तलाक की घटनाएँ देखेने में आती है।

(7) सृजनात्मकता–निष्क्रियता की अवस्था :–

मनोसामाजिक विकास की यह सातवीं अवस्था मानव जीवन की मध्यावस्था (middle ge) होती है। इस अवस्था से गुजरने वाले व्यक्ति से समाज यह अपेक्षा करता है कि समाज के लिए अपनी क्षमता के अनुरूप कुछ करे। यदि सामाजिक अपेक्षा की पूर्ति के लिए कोई व्यक्ति अपना योगदान देता है तो इसे अपनी उत्पादकता से मानसिक सन्तुष्टि मिलती है। परन्तु किसी व्यक्ति में सृजनात्मक क्षमता का भाव हो तो वह निष्क्रिय बना रहे तो हीनता की भावना से ग्रषित रहेगा।

(8) ईमानदारी–निराशा की अवस्था :–

व्यक्ति तेजी वृद्धावस्था की ओर बढ़ने लगता है और पिछली अवस्था की उपलब्धियाँ की समीक्षा करता है यदि वह पाता है कि विकास में पिछली अवस्था में पर्याप्त मात्रा में विश्वास, पहचान, घनिष्ठता आदि के भाव विकसित कर चुका है और वे समाज के लिए अपनी मनुष्य योगदान दे चुका है तो वह के अंतिम अवस्था को पूरे उत्साह के साथ गुजार देने में सक्षम होता है। इसके विपरीत जब कोई व्यक्ति यह महसूस करता है। उसने पिछली अवस्था को ईमानदारी से व्यतीत नहीं किया तो सोच–सोच कर दुःखी होता है तो वह इस उदासीनता की भावना से वह अंत का त्रस्त रहता है।

अन्तर्गत पाण्डुरा का सामजिक अधिगम का सिद्धांत

व्यक्तित्व शब्द का प्रयोग विभिन्न कार्यों में किया जाता है। यह कभी यह व्यवहार को स्पष्ट करता है। कभी मानसिक क्षमता को स्पष्ट करता है। कभी समायोजन की क्षमता के रूप में उपयोग किया जाता है और कभी शारीरिक बनावट को स्पष्ट करता है। अतः व्यक्तित्व के वास्तविक कार्य को जानना आवश्यक प्रतीत होता है।

शाब्दिक अर्थ :–

व्यक्तित्व शब्द अंग्रेजी भाषा के पर्सनाल्टी शब्द का हिन्दी रूपान्तर है। पर्सनाल्टी शब्द की उत्पत्ति लैटिन भाषा के परसोना से हुई है। परसोना शब्द का अर्थ एक प्रकार के ऐसे पहनावे से है जो नाटक के समय कलाकार मंच पर विशेष भूमिका अदा करने के लिए पहनता है। परन्तु सुखोवा अथवा पहनावे द्वारा व्यक्ति का व्यक्तित्व वास्तविक से भिन्न हो जाता है। इस कार्य से व्यक्तित्व को व्यक्ति के बाह्य गुणों के आधार पर समझा जाता है। परन्तु इससे व्यक्तित्व का वास्तविक अर्थ स्पष्ट नहीं होता है।

परिभाषा –

अलपोर्ट जी. डब्ल्यू.: व्यक्तित्व मनोदैहिक व्यवस्थाओं का गत्यात्मक संगठन है, जो पर्यावरण के प्रति होने वाले उसके अपूर्ण अनुकूलन का निर्धारण करता है।

डेशिल, जे.एफ. – व्यक्ति का व्यक्तित्व सम्पूर्ण रूप से उसकी प्रतिक्रियाओं की सम्भावनाओं की उस ढंग की व्यवस्था है। जिस ढंग से वह सामाजिक प्राणियों द्वारा आंकी जाती है। यह व्यक्ति के व्यवहारों का एक प्रयोजित संकलन है जोकि व्यक्ति अपने सामाजिक समायोजन के लिए करता है।

व्यक्तित्व व्यक्ति के आन्तरिक एवं बाह्य व्यवहार के तरीके, रूचियों, अभिवृत्तियां, योग्यतायें, क्षमतायें, आदते तथा शारीरिक गुण सम्मिलित होते हैं।

अलवर्ट बैण्डुरा : व्यक्तित्व का सामाजिक सीलने का सिद्धांत सचमुच में स्कीनर द्वारा प्रतिपादित व्यवहार सिद्धांत का ही एक विस्तृत रूप है। सामाजिक सीलाने का सिद्धांत में व्यक्तित्व की व्याख्या करने में स्कीनर के ही समय स्पष्ट व्यवहारों पर अधिक बल डाला गया है। परन्तु स्कीनर से हटकर इस सिद्धांत में आन्तरिक संज्ञानात्मक चरों जो तथा अनुक्रिया के बीच में मध्यस्थता करते हैं को भी व्यक्तित्व की व्याख्या में सम्मानीय स्थान दिया गया है। ऐसे आन्तरिक संज्ञानात्मक चर, जैसे– आवश्यक प्रणोद, इच्छा संवेग आदि को स्कीनर ने आत्मनिष्ठा के तत्व से ओतप्रोत होने के कारण पूर्णतः अस्वीकृत कर दिया था। इस तरह से स्पष्ट है कि सामाजिक सीलना सिद्धांत में सीलने के महत्वपूर्ण नियमों को तो महत्व दिया ही गया है। साथ ही साथ व्यक्ति के संज्ञानात्मक क्षमताओं को भी इसमें काफी महत्व दिया गया है। इसलिये व्यक्तित्व के सामाजिक सीलना सिद्धांत को संज्ञानात्मक–सीलना सिद्धांत की भी संज्ञा दी गयी है।

सामाजिक अधिगम सिद्धांत में सचमुच में तीन मनोविज्ञानिकों के सिद्धांत को रखा गया है। अलवर्ट वैण्डुरा, मार्टिन सोलिगमैन तथा वाल्टर मिसकेल इन तीनों में अलवर्ट वैण्डुरा के सिद्धांत को सबसे अधिक महत्वपूर्ण माना गया है तथा इस सिद्धांत में व्यक्तित्व

मनोविज्ञान के क्षेत्र में अन्य सामाजिक–सीलना सिद्धांतों की तुलना से अधिक शोध करने के लिए मनोविज्ञानिकों को आकर्षित किया है। अतः हम यहां पहले वैण्डुरा के ही सिद्धांत पर विचार करेंगे।

वैण्डुरा द्वारा प्रतिपादित व्यक्तित्व का सिद्धांत अन्य सामाजिक सीलना के अनुरूप निम्नांकित दो मुख्य प्रस्तावों पर आधारित है– **पहला** अधिकतर मानव व्यवहार अर्जित होते हैं अर्थात् व्यक्ति उन्हें अपने जीवन काल में सीखता है एवं **दूसरा** मानव व्यवहार के सम्पोषण एवं विकास की व्याख्या करने के लिए सीखने का नियम पर्याप्त है।

वैण्डुरा का सामाजिक सीखना सिद्धांत में मानव स्वभाव के कुछ खास–खास पूर्वकल्पनाओं जैसे विवेकपूर्ण, पर्यावरणीयता, परिवर्तनशीलता तथा ज्ञेयता आदि पर अधिक बल डाला गया है। परन्तु अधिभूतवाद जैसी पूर्वकल्पनाओं पर नाम मात्र का बल डाला गया है। समस्थिति विषमस्थिति की पूर्वकल्पनाओं को वैण्डुरा सिद्धांत में महत्व नहीं दिया गया है। वैण्डुरा के सामाजिक सीखना के सिद्धांत को निम्नांकित 6 प्रमुख भागों में बांटकर प्रस्तुत किया गया है–

1. अन्योन्यनिधर्मिता का संप्रत्यय
2. आत्म–तंत्र
3. प्रेरणा
4. माडलिंग
5. प्रेरणात्मक
6. मापन एवं शोध

1. <u>अन्योन्यनिर्धार्यिता</u> :–

वैण्डुरा के सिद्धांत में अन्योन्य निर्धार्यिता का संप्रत्यय एक काफी महत्वपूर्ण संप्रत्य है। इस संप्रत्यय के माध्यम से वैण्डुरा यह स्पष्ट करना चाहते है कि मानव व्यवहार संज्ञानात्मक व्यवहारात्मक तथा पर्यावरणीय निर्धारकों के बीच सतत अन्योन्य अन्तःक्रिया को वैण्डुरा ने अन्योन्य निर्धार्यिता की संज्ञा दी है। इस संप्रत्यय के अनुसार मानव क्रिया परस्पर प्रभात हमेशा पड़ता है।

2. <u>आत्म–तंत्र</u> :–

अन्योन्य–निर्धार्यता के संप्रत्यय से स्पष्ट है कि प्रत्येक चीज परस्पर ढंग से अन्तः यात्मक होते हैं। प्रश्न यह उठता है कि क्या इनका कोई केन्द्र बिन्दु भी होता है। वैण्डुरा ने इस प्रश्न का उत्तर हां के रूप में दिया है और वह केन्द्र बिन्दु है– आत्मतंत्र। वैण्डुरा ने यह स्पष्ट किया है। आत्मतंत्र कोई मानसिक एजेन्ट नहीं है। जिससे व्यवहारों का नियंत्रण होता है बल्कि यह एक ऐसा संज्ञानात्मक संरचना है। जो व्यक्ति को एक संदर्भ प्रकृम आत्म तंत्र से व्यक्तित्व में संगठता तथा एकात्मता उत्पन्न होती है। आत्म तंत्र का संबंध चिन्तन तथा प्रत्यक्षण से विशेष रूप से होता है। आत्म–तंत्र का एक महत्वपूर्ण कार्य आत्म नियमन आत्म वियमन से तात्पर्य चिन्तन द्वारा अपने वातावरण को जोड़ दिया करने तथा अपने कार्यों के परिणामों को स्पष्ट करने की क्षमता से होता है। आत्म नियमन व्यवहार में तीन प्रक्रियायें सम्मिलित होती हैं– 1. आत्म प्रेक्षण, 2. निर्णय प्रक्रिया एवं 3. आत्म–अनुक्रिया।

आत्म–प्रेक्षण में व्यक्ति अपने आप को कुछ खास–खास कारकों जैसे निष्पादन के गुण मात्रा मौलिकता आदि के रूप में प्रेक्षण करता है। निर्णयन प्रक्रिया में व्यक्ति अपने व्यवहार को वैयक्तिक मानदंडों के रूप में तथा दूसरों के साथ तुलना करके किसी निर्णय पर पहुंचता है। आत्म–अनुक्रिया से व्यक्ति पहले किये गये प्रेक्षणों एवं निर्णयों के आधार पर व्यक्ति अपने आप को धनात्मक एवं ऋणात्मक ढंग से मूल्यांकन करता है और उसी के संदर्भ में अपने आप को सुसंस्कृत करता है या दंड देता है।

(3) <u>प्रेरणा</u> :–

वैण्डुरा के लिए प्रेरणा एवं संज्ञानात्मक व्याकृति है तथा इसके दो स्त्रोत होते हैं। पहला स्त्रोत भविष्य में मिलने वाला पुनर्वलन इस तरह के पुनर्वलन से व्यक्ति एक खास ढंग से व्यवहार करने के लिए प्रेरित होता है। दूसरा स्त्रोत एक निश्चित लक्ष्य या निष्पादन के वांछित स्तर को निर्धारित करके उसी के आलोक में व्यक्ति अपने निष्पादन का मूल्यांकन करता है। इससे भी व्यक्ति उस वांछित स्पष्ट के अनुरूप निष्पादन करने के लिए प्रेरित होता है। वैण्डुरा तथा शुल्क ने इस संबंध में एक प्रयोग भी किया है। इस अध्ययन के परिणाम में यह देखा गया कि गणितीय कौशलों में कमजोर बच्चे जब अपने लिये निश्चित किये गए छोटे–छोटे लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए प्रयास करते हैं। उनका निष्पादन उस परिस्थिति की तुलना में काफी उन्नत हो जाता है। जब उसके द्वारा निर्धारित किये गए लक्ष्य सुदूर थे तथा जिन पर पहुंचने में उसे अधिक समय लगता था, इस प्रयोग के आधार पर वैण्डुरा तथा शुल्क द्वारा इस निष्कर्ष पर पहुंच गया कि व्यक्ति जब अपने व्यवहार पर सतत मनन करता है तथा अपने व्यवहारों का मूल्यांकन करते रहता है तो इससे एक तरह की आत्म प्रेरणा मिलती है और वह पूर्वनिर्धारित लक्ष्यों के अनुरूप और अधिक कार्य करने के लिए प्रेरित होता है।

(4) <u>मॉडलिंग</u> :–

वैण्डुरा का मत है कि व्यक्ति दूसरों के व्यवहारों का प्रेक्षण करके तथा उसे दोहराकर कर वैसा ही व्यवहार करना सीख लेता है। इसे ही मॉडलिंग की संज्ञा दी जाती है। इस सिलसिले में वैण्डुरा रोस तथा रोस ने एक लोकप्रिय प्रयोग किया है । इस प्रयोग में स्कूल के बच्चों को वयस्क द्वारा तीन से चार फीट की एक गुड़िया जिसे बांच गुड़िया का नाम दिया गया था।

शोध के आधार पर मॉडल के निम्नांकित तीन कारकों को अधिक महत्वपूर्ण बतलाया गया है,जिससे मॉडलिंग प्रभावित होता है– 1. मॉडल की विशेषताएं, 2. प्रेक्षक की विशेषतायें एवं 3. व्यवहार के पुरस्कार परिणाम।

(5) <u>प्रेक्षणात्मक</u> :–

वैण्डुरा ने अपने सिद्धांत में मॉडलिंग को प्रभावित करने वाले कारकों की सिर्फ पहचान ही नहीं की है। बल्कि प्रेक्षणात्मक सीखना के स्वरूप का विश्लेषण भी किया है और पाया है कि इस तरह का सीखना निम्नांकित चार अन्तर्संबंधित प्रक्रियाओं द्वारा नियंत्रित होती है।

(a) अवधान–संबंध :

मॉडलिंग का सबसे पहला महत्वपूर्ण प्रक्रिया यह है कि प्रयोज्य मॉडल पर ठीक से ध्यान दे मॉडल का मात्र प्रत्याक्षण कर लेने से ही इस बात की गारंटी नहीं हो जाती है कि मॉडलिंग होगा ही।

(b) वारणात्मक प्रक्रियाएं :–

प्रेक्षणात्मक सीखना की दूसरी महत्वपूर्ण प्रक्रिया धारणा से संबद्ध है। प्रेक्षणात्मक सीखना के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति मॉडल के सभी सार्थक व्यवहारों को याद करने या उसे धारण कर रखे।

(c) पुनरुत्पादक क्रियाएं :–

पुनरूत्पादक क्रियाओं से वैण्डुरा का तात्पर्य सांकेतिक चित्रण को क्रिया या व्यवहार में परिणत करने से होता है। वैण्डुरा का मत है कि मॉडल के व्यवहार को ध्यान में रखने उसका सांवेगिक चित्रण कर लेने तथा मन ही मन उसका पुर्नाभ्यास कर लेने मात्र से ही व्यक्ति उस व्यवहार को सही सही नहीं कर पाता है यह बात विशेषकर उस परिस्थिति में अधिक स्पष्ट हो जाती है, जहां व्यक्ति को जटिल एवं कौशल व्यवहार सीखना होता है। इस तरह की परिस्थिति में मॉडल के व्यवहारों का क्रिया में परिणत करके पुर्नाभ्यास करना आवश्यक हो जाता है।

उदाहरण, मान लिया जाय कि कोई व्यक्ति कार चलाना सीख रहा है, कार चलाने में जो मौलिक क्रियाएं है उसे तो व्यक्ति दूसरों को कार चलते देखकर सीख सकता है तथा मॉडल के व्यवहार का सांकेतिक चित्रण को व्यक्ति मन ही मन कई बार दोहरा सकता है, लेकिन इसका वास्तविक व्यवहार में परिणत किया जाना प्रारम्भ में काफी फूहड़ होगा।

(d) प्रेरणात्मक प्रक्रियायें :–

प्रेक्षणात्मक सीखना की यह चौथी प्रक्रिया है,जिसका संबंध प्रेरणात्मक प्रक्रियाओं से है, चाहे व्यक्ति मॉडल के व्यवहार को जितना ही ध्यानपूर्वक क्यों न देखे और उसे धारण करके रखे तथा उसमें व्यवहार को करने की क्षमता चाहे कितनी भी अधिक क्यों न हो, वह उस व्यवहार को तब तक ठीक ढंग से नहीं कर पाता है।

(6) मापन एवं शोध :–

वैण्डुरा ने अपने सिद्धांत में व्यक्तित्व मापन के लोकप्रिय प्रविधियों जैसे–स्वतंत्र साहचर्य, स्वप्न विश्लेषण या प्रेक्षण प्रविधि का प्रयोग नहीं किया है। उनके अनुसार व्यवहारात्मक तथा संज्ञानात्मक चरों का मापन के लिए आत्म–प्रतिवेदन प्रविधियों की सिफारिश की गयी है। जैसे–आत्मसामृद्ध का मापन उन्होंने कई व्यवहारात्मक परिहार्य परीक्षण जिसमें 29 एकांश थे, पर रेटिग्स करवा कर किया। छात्रों में परीक्षण दृश्चिेता को मापने के लिए एक व्यक्तित्व परीक्षण का निर्माण किया तथा इसके अलावा मॉडलिंग अध्ययन में बच्चों के व्यवहारों का अध्ययन प्रत्यक्ष प्रेक्षण तथा दैहिक मापों के भी आधार पर किया गया।

वैण्डुरा के सिद्धांत के मूल्यांकन – वैण्डुरा को व्यक्तित्व सिद्धांत के कुछ गुण एवं अवगुण है। इसके प्रमुख गुण–

(i) सामाजिक सीखना सिद्धांत काफी वस्तुनिष्ठ सिद्धांत हैं तथा इसे प्रयोगशाला विधि के लिए काफी उपयुक्त माना गया है। वैण्डुरा के सिद्धांत पर कोई आनुयोगिक शोध किये गये है। जिनसे इस सिद्धांत को काफी समर्थन मिला है।

(ii) वैण्डुरा के सामाजिक–सीखना सिद्धांत को अधिकतर शोध मनोवैज्ञानिकों एवं नैदानिक मनोवैज्ञानिक द्वारा बीसवीं शताब्दी का व्यक्तित्व के अध्ययन एवं उपचार में अधिक उत्तेजनपूर्ण एवं रचनात्मक क्रान्ति माना है।

(iii) वैण्डुरा के प्रेक्षणात्मक सीखना तथा उसका सुफला व्यवहार परिमार्जन को प्रयोगशाला परिस्थिति से अलग करके दिन प्रतिदिन की वास्तविक समस्याओं को सुलझाने में लोगों ने उसे काफी उपयोगी बतलाया है।

(iv) वैण्डूरा का सामाजिक सीखना सिद्धान्त से लोगों ने कई संगत एवं महत्वपूर्ण मूल्यांकन प्रविधि ज्ञात करने में सफल हुये हैं।

(7) अवगुण – आलोचकों का मत है कि वैण्डुरा का सामाजिक सीखना सिद्धांत व्यक्तित्व के सिर्फ परिधीय पहलू की व्याख्या करता है इन आलोचकों का मत है कि इस सिद्धान्त में मात्र स्पष्ट व्यवहार पर बल डालकर मानव व्यक्तित्व के महत्वपूर्ण पहलुओं जैसे– चेतन एवं अचेतन प्रेरणात्मक बलों की पूर्णरूपेण उपेक्षा की गयी है। फलतः इन सिद्धान्त में जो व्यक्तित्व की व्याख्या की गयी है। उसे पूर्णतः वैज्ञानिक नहीं माना जा सकता।

जीन पियाजे का संज्ञानात्मक सिद्धांत

संज्ञानात्य सिद्धान्त – जीन पियाजे ने बालकों के चिन्तन या संज्ञानात्मक विकास की व्यवस्था करने के लिये एक चार अवस्था सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इस सिद्धांत में पियाजे ने संज्ञानात्मक विकास की व्यवस्था चार प्रमुख अवस्थाओं बांटकर किया है। वे अवस्थायें निम्नांकित है–

(1)संवेदी – पेशीय अवस्था (2)ठोस संक्रिया की अवस्था

(3)औपचारिक संक्रिया की अवस्था (4)प्राक्सक्रियात्मक अवस्था

इन अवस्थाओं का वर्णन करने के पहले यह आवश्यक हैं कि इस सिद्धांत की प्रमुख पूर्वक कल्पनाओं पर विचार कर लिया जाय। इस सिद्धान्त की निम्नांकित चार प्रमुख पूर्णकल्पनायें हैं।

(1) मानव शिशु जन्म से ही वातावरण की अनिश्चिता को दूर करने के लिए अनुकूलन करता है तथा संबंधित एवं समन्वित ढंग से इस क्षमता को विकसित करने की कोशिश करता है।

(2)जब बालकों के सामने कोई ऐसी घटना घटती है जिसे उसका पहले कभी अनुभव नहीं है। वो इससे एक तरह का संज्ञानात्मक असंतुलन उत्पन्न हो जाता है जिसे वह आत्मसात्करण तथा समायोजन के माध्यम से संतुलित करता है।

(3)साम्यधारण– की प्रक्रिया सिर्फ बालको की गत अनुभूतियां पर ही निर्भर नहीं करता है। बल्कि उनकी शारीरिक परिपक्वता के स्तर पर भी यानी उसके स्नायुमंडल संवेदी अंगों पेशीय अंगों के विकास पर भी निर्भर करता है।

(4) साम्यधारा का प्रभाव यह होता है कि बालकों की संज्ञानात्मक संरचना अधिक विकसित हो जाती है। जिसके कारण संज्ञानात्मक विकास की चारों अवधायो में उनका विकास समोजित होता है।

अवस्थायें :

(1) <u>संवेदीय–पेशीय अवस्था</u> :–

यह अवस्था जन्म से दो साल तक की होती है। इस अवस्था में शिशुओं में अन्य क्रियायों के अलावा शारीरिक रूप से चीजों को इधर–उधर करना, वस्तुओं की पहचान करने की कोशिश करना। किसी चीज की कोशिश करना। किसी चीज को पकड़ना और प्रायः उसे मुंह में डालकर उसका अध्ययन करना आदि प्रमुख है। पियाजे ने यह बतलाया है कि इस अवस्था में शिशुओं का बौद्धिक विकास या संज्ञानात्मक विकास निम्नांकित छः उप अवस्थाओं से होकर गुजरता है।

पहली अवस्था को प्रतिवर्त क्रियाओं की अवस्था कहा जाता है जो जन्म से 30 दिन तक की होती है।

दूसरी अवस्था प्रमुख्स तृतीय प्रतिक्रियाओं की अवस्था है जो 1 महीने से 4 महीने को अवधि का होता है इस अवस्था में शिशुओं की प्रतिवर्त क्रियायें उनकी अनुभूतियों द्वारा कुछ हद तक परिवर्तित होती है। दोहराई जाती और एक–दूसरे के साथ अधिक समन्वित हो जाती है।

तीसरी अवस्था गौण तृतीय प्रतिक्रियाओं की अवस्था होती है जो 4 से 8 महीने तक की अवधि की होती है। इस अवस्था में शिशु वस्तुओं को उलटने, पलटने तथा छूने पर अपना अधिक जोर लगाते हैं।

2. <u>प्राक्संक्रियात्मक अवस्था</u> :–

संज्ञानात्मक विकास की यह अवस्था 2 साल से 7 साल की होती है। दूसरे शब्दों में यह अवस्था होती है जो प्रारम्भिक बाल्यावस्था की होती है। इस अवस्था की पियाजे ने प्राक्संप्रत्यात्मक अवधि तथा अन्तर्दशी अवधि में बांटा है।

(1) <u>प्राक्सप्रत्यात्मक अवधि</u> – यह दो साल से 4 साल की होती है, इस अवस्था में बालक सूचकता विकसित कर लेता है। सूचकता से तात्पर्य इस बात से होता है कि बालक

यह समझने लगते हैं कि वस्तु शब्द प्रतिमा तथा चिन्तन किसी चीज के लिए किया जाता है, उन्होंने दो तरह की सूचकता पर बल डाला है।

संकेत तथा चिन्ह किसी ठोस वस्तु के मानसिक चिन्तन का दूसरा नाम संकेत है।

पियाजे ने प्राक्सक्रियात्मक चिन्तन की दो परिसीमायें भी बतलाया है जो इस प्रकार है–(1) जीववाद, (2) आत्मकेन्द्रिता।

3. ठोस संक्रिया की अवधि :–

यह अवस्था 7 साल से प्रारम्भ होकर 12 साल तक चलती है। इस अवस्था की विशेषता यह है कि बालक ठोस वस्तुओं के आधार पर आसानी से मानसिक संक्रियाऐं करके किसी समस्या का समाधान कर लेते हैं, परन्तु उन वस्तुओं को न देकर यदि उसके बारे में शाब्दिक कथन तैयार कर समस्या उपस्थित की आती है। ध्यान देता है न कि अपने शरीर की प्रतिवर्त क्रियाओं पर। इनके अलावा वह जान–बूझकर कुछ ऐसी अनुक्रियाओं को दोहराता है, जो उसे सुनने या करने में रोचक एवं मनोरंजक लगता है।

4. गौण स्क्रीयता के समन्वय की अवस्था चौथी प्रमुख अवस्था है जो 8 महीने से 12 महीने की अवधी की होती है इस अवधी में बालक उद्देश्य तथा, उस पर पहुंचने के साधन में अन्तर होता है। जैसे यदि किसी खिलौना को छिपा दिया जाता है तो वह उसके लिए वस्तुओं को इधर–उधर हटाते हुए खोज जारी रखता है इस अवधि में शिशु वयस्कों द्वारा किए जाने वाले कार्यों का अनुकरण भी प्रारम्भ कर देता है।

5. तृतीय प्रतिक्रियाओं की अवस्थाये 12 महिने से 18 महिने की अवधी की होती है। इस अवस्था में बालक वस्तुओं के गुणों को प्रयास एवं त्रुटि विधि से सीखने की कोशिश करता है। इस अवस्था में उनकी शारीरिक क्रियाओं में अभिरूचि कम हो जाती है।

6. मानसिक संयोग द्वारा नए साधनों की खोज की अवस्था अन्तिम अवस्था है। जो 18 महीने से 24 तक की अवधी की होती है यह वह अवस्था होती है जिसमें बालक वस्तुओं के बारे में चिन्तन प्रारम्भ कर देता है। इस अवधि में बालक उन वस्तुओं के प्रति भी अनुक्रिया करना प्रारम्भ कर देता है। जो सीधे दृष्टिगोचर नहीं होती है। इस गुण को वस्तु स्थायित्व कहा जाता है। दूसरे शब्दों में बालक 3–4 महिने की उम्र में जो यह सोचते थे कि जब कोई वस्तु उनके सामने होती है तब उसका अस्तित्व बना होता है। तो वे ऐसी समस्याओं पर मानसिक संक्रियतायें कर कोई निष्कर्ष पर पहुंचने में असमर्थ रहते हैं जैसे यदि उन्हें तीन वस्तुओं A, B, C दी जाएं तो उन्हें देखाकर वे यह आसानी से कह देंगे कि इनमें 'A' 'B' से बड़ा और 'B' C से बड़ा है।

(4) औपचारिक संक्रियता की अवस्था :–

यह अवस्था 11 साल में प्रारम्भ होकर वयस्कावस्था तक अवस्था में किशोरी का चिन्तन अधिक लचीली आ जाता है। जब वे किसी समस्या के समाधान काल्पनिक रूप से सोचकर एवं चिन्तन करके करने में सक्षम हो जाती है। इस अवस्था में समस्या के समाधान के लिए समस्या के एकांगी को ठोस रूप से उसके सामने उपस्थित होना अनिवार्य नहीं है,

इस तरह किशोरी के चिन्तन में वास्तुनिष्ठा तथा वास्तविकता की भूमिका अधिक बढ़ जाती है। दूसरे शब्दों में बालकों में विकेन्द्रण पूर्णतः विकसित हो जाता है।

पियाजे का मत है कि औपचारिक संक्रिया की अवस्था अन्य तुलना में अधिक परिवर्त होती है तथा यह किशोरी के शिक्षा के स्तर से सीधे प्रभावित होता है, जिस बालकों का शिक्षा रतर काफी नीचा होता है। उनमें औपचारिक संक्रियता चिन्तन भी काफी कम होता है। परन्तु जिस बालक का शिक्षा स्तर काफी ऊंचा होता है उनमें औपाचारिक संक्रियात्मक चिन्तन अधिक मात्रा में होता है। इस तरह से हम देखते हैं कि पियाजे ने अपने चार स्तरीय सिद्धान्तों में इस बात पर बल डाला है कि बालकों में संज्ञानात्मक विकास चार विभिन्न अवस्थाओं में होता है।

कोलबर्ग का नैतिक विकास का सिद्धान्त

विगत कुछ दशकों से नैतिक विकास मनोवैज्ञानिक चिंतन एवं अनुसंधान का एक महत्वपूर्ण विषय रहा है। विचारकों ने विशेष रूप से इस पक्ष पर ध्यान केन्द्रित किया कि बच्चों के भीतर नैतिक ज्ञान एवं नैतिक व्यवहार का विकास कैसे होता है। सम्बन्धित साहित्य के अवलोकन से पता चलता है कि मनोवैज्ञानिकों द्वारा नैतिक विकास की व्याख्या में समय–समय पर विभिन्न दृष्टिकोणों को प्रस्तुत किया जाता रहा है। सबसे पहले फ्रायड ने नैतिक विकास के मनोविश्लेषणवादी सिद्धान्त को प्रस्तुत किया था। फ्रायड के अनुसार बच्चा माता–पिता की भावनाओं और अभिवृत्तियों का आन्तरीकरण करता है और उनसे ग्रहण की हुई नैतिकता ही आगे चलकर उसके लिए विवेक का रूप ग्रहण कर लेती है। अब बालक नैतिक आचरण के लिए भीतर से निर्देशित होता है। इस प्रकार फ्रायड ने नैतिक विकास में व्यक्ति की बाल्यकालीन अनुभूतियों का महत्वपूर्ण स्थान बतलाया है।

आगे चलकर नैतिक विकास की व्याख्या के लिए खुद अधिगम परक सिद्धान्तों का विकास हुआ। सीयर्स ने बालकों के नैतिक विकास पर समाजीकरण व शिया पालन विधियों की भूमिका को महत्वपूर्ण बतलाया। बण्डूरा और वाल्टर्स ने बताया है कि बच्चे में नैतिक विकास सामाजिक अधिगम का परिणाम होता है। बच्चा अपने परिवेश में निम्य नमूनों के व्यवहार का विकास कर नैतिक आचरण ग्रहण करता है। यहां नमूनों से अभिप्राय है– माता–पिता, बड़े भाई–बहन या अध्यापक आदि जिन्हें बच्चा अनुकरणीय समझता है। रिगनर ने अधिगम पर प्रबलन का प्रभाव प्रदर्शित करते हुए बतलाया है कि नैतिक विकासदण्ड एवं पुरस्कार पर निर्भर होता है। आगे चलकर दण्ड एवं पुरस्कार का स्थान निन्दा एवं प्रशंसा ले लेती है।

उपरोक्त दोनों ही दृष्टिकोण मनोविश्लेषणवादी और अधिगम प्रकारान्तर से नैतिक विकास में बालक के परिवेश को महत्वपूर्ण मानता है, किन्तु नैतिक विकास सम्बन्धी कोलबर्ग का सिद्धान्त उक्त सभी सिद्धान्तों से भिन्न है। कोलबर्ग की मूलभूत अवधारणाओं, नैतिक व्यवहार की अध्ययन विधि तथा नैतिक विकास की विभिन्न अवस्थाओं का संक्षिप्त विवरण आगे के पृष्ठों में प्रस्तुत है।

कोलबर्ग की मूलभूत अवधारणायें

लारेंस कोलबर्ग की अवधारणा है कि बालक के नैतिक विकास के स्वरूप को समझने के लिए उसके तर्क और चिन्तन के स्वरूप का विश्लेषण करना आवश्यक है। बालक द्वारा प्रदर्शित प्रतिक्रियाओं के आधार पर उसकी नैतिकता का सही अनुमान लगाया जा सकता। अधिकांश परिस्थितियों में बालक दण्ड के भय या पुरस्कार के प्रलोभन से वांक्षनीय व्यवहार प्रदर्शित करता है, नैतिक चिंतन या नैतिक निर्णय के कारण नहीं। अतः अधिगम परक सिद्धान्तवादियों के विपरीत कोलबर्ग ने बालक को किसी धर्म संकट या कसमकश की स्थिति में रखकर यह देखा है कि बालक उस परिस्थिति में क्या सोचता है और किस तर्क के आधार पर उचित व्यवहार के लिए निर्णय लेता है। कोलबर्ग के इस उपागम को प्राणीगत उपागम कहा गया है क्योंकि किसी पर्यावरण के तत्व के कारण नहीं, बल्कि स्वयं बालक की अपनी स्वयं तर्कशक्ति के कारण होता है।

कोलबर्ग का नैतिक विकास सिद्धान्त पियाजे के सिद्धान्त की ही भांति अवस्था सिद्धान्त कहा जाता है। उन्होंने सम्पूर्ण नैतिक विकास को छः अवस्थाओं में विभाजित किया है। इन अवस्थाओं का उल्लेख आगे किया जायेगा। कोलबर्ग ने उक्त छः अवस्थाओं को सार्वभौमिक माना है। उनका विश्वास है कि सभी बच्चे इन जवस्थाओं से गुजरते हैं। नैतिक विकास की ये अवस्थायें एक निश्चित क्रम में आती हैं और यह क्रम बदला नहीं जा सकता। ऐसा संभव नहीं है कि किसी बालक में पहले तीसरी अवस्था की नैतिकता विकसित हो और बाद में पहले अवस्था की नैतिकता विकसित हो। कोलबर्ग की नैतिक विकास की अवस्था में पायी जाने वाली नैतिकता प्रत्येक अवस्था की भिन्न भिन्न होती है। प्रत्येक अवस्था में बालक की तर्कशक्ति एक नये प्रकार की होती है।

एक अवस्था से दूसरी अवस्था में पहुंचने पर बालक के भीतर नैतिक व्यवहारमें गुणात्मक परिवर्तन कब और कैसे उत्पन्न होते हैं– एक विचारणीय प्रश्न है। अवस्था सिद्धान्त के अन्य समर्थकों की भांति कोलबर्ग की भी यही धारणा है कि बालक के नैतिक व्यवहार में गुणात्मक परिवर्तन क्रमिक रूप से हो जाते हैं। यकायक नहीं उत्पन्न हो जाते। वस्तुतः किसी अवस्था विशेषज्ञ में पहुंचने पर बालक केवल उसी अवस्थाओं की विशेषताओं का ही प्रदर्शन नहीं करता बल्कि उसमें कई अवस्थाओं के व्यवहार मिश्रित रूप में दिखाई पड़ते हैं। उसके अधिकांश व्यवहार जिस अवस्था के अनुरूप होते हैं, बालक को उसी अवस्था का मान लिया जाता है, इस सन्दर्भ में अवस्था सिद्धान्तवादियों ने अवस्था मिश्रण की परिकल्पना प्रस्तुत की है जिसका अभिप्राय यह है कि किसी एक समय भी बालक एक से अधिक स्तरों पर व्यवहार करता है। सम्पूर्ण विकासात्मक मनोविज्ञान में अवस्था मिश्रण की परिकल्पना एक वास्तविकता है, और सभी प्रकार के व्यवहारों के विकास में देखने को मिलती है।

कोलबर्ग के एक सहयोगी इलियट टूरियल का कहना है कि प्रायः सभी बालक नैतिक विकास की एक अवस्था के बाद दूसरी अवस्था में प्रविष्ट होते हैं, परन्तु सभी बालक सभी छः अवस्थाओं में नहीं पहुंच पाते। मैट्रिक विकास की अन्तिम अवस्था तक पहुंचने वाले बालकों की संख्या बहुत ही कम होती है। इसलिये बालकों में नैतिक तर्कशक्ति या नैतिक चिन्तन की दृष्टि से व्यक्तिगत भिन्नतायें पायी जाती हैं। ये भिन्नतायें विकास की गति और विकास की सीमा दोनों ही कारणों से उत्पन्न होती है। टूरियल ने अमरीकी

बालकों के नैतिक विकास की गतिविधि का अध्ययन किया और पाया कि अधिकांश अमरीकी बालंक नैतिक विकास की केवल चौथी अवस्था तक ही पहुंच पाते हैं।

कोलबर्ग की विधि :–

कोलबर्ग ने बालकों के नैतिक विकास के अध्ययन के लिए एक नयी प्रणाली का आविष्कार किया। उनका विचार था कि नैतिक विकास को समझने के लिए बालक की तर्कशक्ति का अध्ययन किया । अतः उन्होंने ऐसी कहानियों की श्रृंखला तैयार की जिनमें बालक के लिए एक धर्मसंकट की स्थिति उपस्थित की गयी थी। इस धर्म संकट की स्थिति के कारण बालक के मन में एक द्वन्द उत्पन्न होता है। इस प्रकार की एक कहानी नीचे प्रस्तुत है– एक समय की बात है, एक नगर में हवाई हमले का संकेत पाकर नागरिक बम वर्षा के भय से आतंकित हो अपने–अपने पनाहगाहों में छिपने लगे, नगर के सभी लोगों के पास अपने निजी पनाहगार नहीं थे, एक नागरिक श्री जोन्स अपने परिजनों के साथ अपने पनाहगाह में पहुंचे, जहां पांच दिन तक सुरक्षित रह सकने के लिए हवा की पर्याप्त मात्रा थी। श्री जोन्स का एक पड़ोसी भी जिसके पास अपना पनाहगाह नहीं था उनके पनाहगाह में शरण चाहता था। श्री जोन्स ने उसकी प्रार्थना स्वीकार नहीं की क्योंकि पड़ोसी को शरण देने परश्री जोन्स के परिजनों का जीवन संकटग्रस्त हो जाने का भय था। यह सच भी था कि यदि पड़ोसी बाहर रह जाता तो वह मौत का शिकार हो जाता । अतः श्री जोन्स के इंकार करने पर पड़ोसी ने पनाहगाह का दरवाजा तोड़ना शुरू कर दिया जिस पर श्री जोन्स उसे गाली और मार देने की धमकी देने लगे।

कोलबर्ग ने बालकों के नैतिक विकास के अध्याय में ऐसी ही बहुत सी कहानियों का उपयोग किया है। ये कहानियां विभिन्न आयु के बच्चों को सुनायी जाती हैं। प्रत्येक कहानी धर्म संकट की उपस्थिति करती है। कहानी सुनकर बालक के मन में एक द्वन्द (conslict) उत्पन्न होता है। कहानी सुनकर बालक कई तर्क वितर्क करता है कि कहानी में प्रस्तुत दो विकल्पों में से किसी भी विकल्प को क्यों अपनाया जाता है? प्रस्तुत कहानी में भी दो विकल्प हैं या तो पड़ोसी बाहर रहकर जान गवाये या उसके पनाहगाह में आ जाने पर श्री जोन्स का परिवार मौत का शिकार बन गया। अतः कहानी के श्रोताओं से यह प्रश्न पूंछे जा सकते हैं। क्या श्री जोन्स को पड़ोसी को गोली मार देने का अधिकार है? क्या श्री जोन्स को पनाहगाह में प्रवेश देने का अधिकार है? जबकि वे जानते हैं कि इससे इनके परिजनों का जीवन संकट में पड़ जायेगा। कोलबर्ग ने इस कहानी विधि का उपयोग विभिन्न आयु के बालकों पर किया और पाया कि अलग–अलग आयु के बालक भिन्न–भिन्न प्रकार के तर्क प्रस्तुत करते हैं।

नैतिक विकास की अवस्थायें :–

कोलबर्ग ने नैतिक विकास की कुल छः अवस्थाओं का वर्णन किया है। किन्तु उन्होंने दो–दो अवस्थाओं को साथ रखकर उन्हें तीन स्तरों में बांट दिया है। ये तीन स्तर क्रम से प्रीकन्वेंशनल कन्वेंशनल और पोस्ट कान्वेंशनल स्तर कहे जा सकते हैं। जब बालक किसी बाहरी तत्व या किसी भौतिक घटना के सन्दर्भ में किसी आचरण को नैतिक अथवा अनैतिक मानता है तो उसकी नैतिक तर्क शक्ति प्रीकन्वेंशनल स्तर की कही जाती है। जब बालक के नैतिक चिंतन का आधार सामाजिक होता है तो वह कन्वेंशनल स्तर का माना

जाता है। नैतिक विकास का तीसरा स्तर अर्थात पोस्ट कन्वेंशनल स्तर वह होता है जब कोई बालक अपने विवेक के आधार पर किसी व्यवहार को अच्छा या बुरा, उचित या अनुचित, नैतिक या अनैतिक समझता है। इनमें से प्रत्येक स्तर के अन्तर्गत दो–दो अवस्थायें होती है। इन दोनों अवस्थाओं में नैतिक तर्क का आधार एक ही होने के कारण इन्हें एक ही स्तर के अन्तर्गत रखा गया है, नैतिक विकास के विभिन्न स्तर नीचे क्रम में प्रस्तुत है–

<u>प्रकन्वेंशनल स्तर (Preconventional Level)</u>

- आज्ञा एवं दण्ड की अवस्था।
- अहंकार की अवस्था।

<u>कन्वेंशनल स्तर (Convential Level)</u>

- प्रशंसा की अवस्था
- सामाजिक व्यवस्था के प्रति सम्मान की अवस्था

<u>पोस्ट कन्वेंशनल स्तर (postconventional level)</u>

- सामाजिक समझौता की अवस्था
- विवेक की अवस्था

(1) <u>आज्ञा एवं दण्ड की अवस्था</u> :–

कोलबर्ग के अनुसार नैतिक विकास की यह अवस्था ऐसी होती है कि जब बच्चे का चिंतन दण्ड के भय से प्रभावित होता है। परिवार एवं परिवेश के सशक्त व्यक्ति माता–पिता आदि बच्चे को कुछ चुने हुए कार्य करने का आदेश देते रहते है। जब बच्चा उनके आदेशों का उलंघन करता है तो वह प्रायः दण्डित किया जाता है। आज्ञाओं का पालन न करने तथा उसके फलस्वरूप दण्ड पाने पर बच्चा यह सोचने लगता है कि दण्ड से बचने के लिए आज्ञापालन आवश्यक है। कोलबर्ग का इस सन्दर्भ में महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि बच्चा किसी आचरण को सम्पन्न करने का निर्णय क्यो लेता है। अल्पायु और अपरिपक्व होने के कारण बच्चा किसी कार्य को करने अथवा न करने का निर्णय इसलिये लेता है क्योंकि उसे दण्ड पाने का भय है। आज्ञाओं का पालन वह इसलिए करता है जिससे लोग उसे दण्डित न करें। इस प्रकार नैतिक विकास की प्रारम्भिक अवस्था में दण्ड को ही बच्चो की नैतिकता का मुख्य आधार माना जाता है। इस आधार पर यह कहा जाता है, जिन कार्यों को करने पर बच्चा दण्ड नहीं पाता है तो उसे नैतिक कहा जाता है और जिन कार्यों को करने पर उसे दण्ड मिलता है तो उसे नैतिक कहा जाता है।

(2) <u>अहंकार की अवस्था</u> :–

इस अवस्था में बालकों के चिंतन का स्वरूप, थोड़ा सा बदल जाता है। आयु में थोड़ा बड़ा हो जाने के कारण अब बालक अपनी आवश्यकताओं और इच्छाओं को समझने लगता है। अब उनके द्वारा किये गये अधिकांश कार्य ऐसे होते हैं जिनसे उसकी और

उसके सम्बन्धियों की आवश्यकतायें पूरी होती है। यदि झूठ बोलने या चोरी करने से उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति होती है तो वह अब ऐसा करना उचित मानने लगता है भले ही पहले वह उन आचरणों के लिए दण्डित होता था। भूखे रहने पर कोई वस्तु चुराकर खा लेने की क्रिया को बालक अब नैतिक आचरण ही समझेगा। अतः नैतिक विकास की इस दूसरी अवस्था में बालक का अहंकार अर्थातउसकी अपनी इच्छायें और आवश्यकतायें उसकी नैतिक शक्ति का आधार बन जाती है।

(3) प्रशंसा की अवस्था :–

नैतिक विकास की तीसरी अवस्था वह होती है, जब बालक किसी कार्य को इसलिए करना चाहता है क्योंकि दूसरे लोग उसकी प्रशंसा करते हैं। इस अवस्था के बालक सामाजिक प्रशंसा एवं निन्दा के महत्व को समझने लगते हैं और निन्दनीय आचरण से बचने की कोशिश करते हैं। समाज में लोग बालक–बालिकाओं से विशिष्ट भूमिकाओं की अपेक्षा करते हैं। जब वे इन भूमिकाओं का निर्वाह भली प्रकार करते है तो लोगों से उन्हें स्वीकृति मिलती है। इस अवस्था में बालक के नैतिक चिंतन का स्वरूप निर्मित होता है उसका सन्दर्भ बालक का परिवेश या समाज होता है कोई भौतिक घटना नहीं।

(4) सामाजिक व्यवस्था के प्रति सम्मान की अवस्था :–

नैतिक विकास को यह चौथी अवस्था बड़ी महत्वपूर्ण अवस्था होती है। कोलवर्ग के अनुसार समाज में अधिकांश लोग नैतिक विकास की इसी अवस्था तक पहुंच पाते हैं। इस अवस्था में प्रविष्ट होने से पहले बालक समाज को इसलिए महत्वपूर्ण मानता था क्योंकि समाज से उसे अपने व्यवहार के लिए स्वीकृति एवं प्रशंसा मिलती थी। अब वह समाज को स्वयं में एक लक्ष्य मानने लगता है। वह समाज और उसकी प्रथाओं, परम्पराओं एवं नियमों में आस्था विकसित कर सामाजिक व्यवस्था के प्रति सम्मान प्रदर्शित करना चाहता है। अपने नैतिक आचरण के सन्दर्भ में बालक अब यह सोचता है कि उसे अच्छा कार्य इसलिये करना चाहिए क्योंकि यह उसका कर्तव्य है। जो व्यवहार सामाजिक नियमों के विरूद्ध है वह निश्चित रूप से अनैतिक है।

(5) सामाजिक समझौता की अवस्था :–

इस अवस्था में पहुंचने पर व्यक्ति के नैतिक चिंतन की दिशा काफी परिवर्तित हो जाती है। अब व्यक्ति पारम्परिक लेन–देन में आस्था रखने लगता है। वह यह मान कर चलता है कि व्यक्ति और समाज के बीच एक समझौते का सम्बन्ध है। व्यक्ति को सामाजिक नियमों को इसलिये मानना चाहिये और उनके लिए या उनके प्रति सम्मान इसलिए प्रदर्शित करना चाहिए, क्योंकि समाज व्यक्ति के हितों की रक्षा करता है, अतः अब व्यक्ति सोंचता है कि चोरी करना समाज के विरूद्ध तथा अनैतिक कार्य है, क्योंकि ऐसा करने से व्यक्ति एवं समाज के बीच का समझौता भंग होता है। वस्तुतः अपने नियमों प्रथाओं एवं कानूनों के द्वारा समाज व्यक्ति को स्वतंत्रता समानता तथा अधिकार और सुरक्षा प्रदान करता है। अतः ऐसे नियमों का उल्लंघन जिन आचरणों से होता है या कारणों से होता है वे अस्पष्टतः या पूर्ण रूप से से अनैतिक होते हैं।

(6) विवेक की अवस्था :–

नैतिक विकास की छठी एवं अन्तिम अवस्था विवेक की अवस्था होती है क्योंकि इस अवस्था में पहुंचने पर व्यक्ति नैतिकता के सम्बन्ध में आत्मनिष्ठ दृष्टिकोण विकसित कर लेता है। उसके भीतर विवेक एवं ज्ञान की भावना जाग्रत हो उठती है और वह अच्छे–बुरे उचित–अनुचित और वांक्षनीय अवांक्षनीय व्यवहारों के सम्बन्ध में अपना व्यक्तिगत विचार रखने लगता है। व्यक्ति का विवेक ही उसके नैतिक निर्णय का एक मात्र आधार बन जाता है। इस अवस्था में पहुंचकर व्यक्ति सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक तथा सरकारी और कानूनी नियमों की व्याख्या अपने विवेक एवं दृष्टिकोण के आधार पर करने लगता है और नियमों की वैद्यता को चुनौती देता है और यह दावा करता है कि मैंने जो कहा है या प्रस्तुत किया है वह अपने आप में पूर्ण रूप से सही है। अगर कोई नियम गलत है तो वह लोगों को चुनौती देता है और कहता है, क्योंकि वे उसके विवेक पर खरे नहीं उतरते। वस्तुतः अब व्यक्ति अपने विवेक के सहारे ही जीवित रहता है केवल वे आचरण ही उसके लिए नैतिक होते हैं जिन्हें उसके विवेक का समर्थन प्राप्त होता है।

सन्दर्भ सूची :–

पुस्तक : आधुनिक विकासात्मक मनोविज्ञान

लेखक : डॉ. जे.एन. लाल, भूतपूर्व प्रोफेसर मनोविज्ञान विभाग गोरखपुर विश्वविद्यालयएवं अनीता श्रीवास्तव, एम.ए.

प्रकाशक : अग्रवाल पब्लिकेशन्स

कसर्यालय : 28 रु 115, ज्योति ब्लाक, संजय प्लेस, आगरा–2

मोबाइल : 9837007491 / (0562)

मैस्लो की आवश्यकताओं की क्रमबद्धता का सिद्धान्त

बालक के विकास की व्याख्या करने वाले जिन सिद्धान्तों का विवेचन ऊपर किया गया है वे दो वर्गों में विभाजित किये जा सकते हैं। इनमें से कुछ सिद्धान्त ऐसे है जो यह मानते हैं कि बालक में व्यवहारगत परिवर्तन किसी मूल प्रवृत्ति अथवा जन्मजात प्रेरक वृत्ति के कारण उत्पन्न और विकसित होते हैं। ऐसे सिद्धान्तों के अन्तर्गत मनोविश्लेषणवादी सिद्धान्तों को रखा जा सकता है, दूसरे प्रकार के सिद्धान्त वे हैं जो इस बात पर बल देते हैं कि बालक द्वारा अधिकांश व्यवहार परिवेशीय कारकों के प्रभाव में सीखे जाते हैं। ऐसे सिद्धान्तों में बैण्डुरा के सामाजिक अधिगम और पियाजे के संज्ञानात्मक विकास के सिद्धान्त की गणना की जा सकती है।

परन्तु कुछ मनोवैज्ञानिकों ने बालक के विकास की व्याख्या एक अन्य दृष्टिकोण से की है जिसे मानवतावादी दृष्टिकोण कहा जाता है। इस सन्दर्भ में अब्राहम मैस्लो और कार्ल रोजर्स के नाम उल्लेखनीय है। मैस्लो ने 1954 तथा रोजर्स ने 1961 में अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जा अपनी सीमाओं के बावजूद भी बालक के विकास को समझने में सहायक सिद्ध हुए हैं। इन्हीं मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोणों को बाल विकास के मानवतावादी सिद्धान्त मानवतावादी सिद्धान्त के नाम से जाना जाता है। इस सिद्धान्त Self theory भी

कहा जाता है। विकास के मानवतावादी सिद्धान्त का केन्द्रीय तथ्य यह है कि बालक अनेक मनोवैज्ञानिक क्षमताओं और शक्तियों का केन्द्र होता है, प्रत्येक बालक विकास क्रम में अपने भीतर एक स्वत्व बोध और स्वयं को पहचाने की क्षमता विकसित कर लेता है। इन्हीं सम्बोधों के आधार पर उसे अपनी क्षमताओं और सीमाओं का ज्ञान होने लगता है। इसके फलस्वरूप धीरे–धीरे बालक के भीतर एक विशिष्ट व्यक्तित्व का विकास प्रारम्भ हो जाता है। बालक अपनी समस्त आवश्यकताओं से अवगत हो जाता है। जहां मनोविश्लेषणवादी सिद्धान्त जन्मजात प्रवृत्ति को और अधिगम सिद्धान्त परिवेशीय कारकों को महत्वपूर्ण मानते है वहीं मानवतावादी सिद्धान्त बालक के विकास के लिए उसके भीतर निहित इच्छाशक्ति को महत्वपूर्ण मानता है। इस प्रकार मानवतावादी सिद्धान्त मनोविश्लेषणवादी सिद्धान्तों तथा अधिगम सिद्धान्त का प्रबल विरोध करता है।

मैस्लो ने बालक की विभिन्न आवश्यकताओं को पांच वर्गों में विभाजित कर उन्हें महत्व के क्रम में व्यवस्थित किया है। आवश्यकताओं के ये पांच वर्ग निम्न प्रकार हैं :–

(1) दैहिक आवश्यकतायें – इसके अन्तर्गत भोजन वस्त्र आदि से सम्बन्धित आवश्यकतायें आती है, जिन्हें व्यक्ति कृषि, व्यापार, उद्योग तथा धनोपार्जन के अन्य साधनों द्वारा सन्तुष्ट करता है।

(2) सुरक्षा सम्बन्धी आवश्यकताओं – इन आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु व्यक्ति अपने लिए आवास का निर्माण करता है और सामूहिक जीवन व्यतीत करता है। आर्थिक सुरक्षा के लिए वह बैंकों में धन संचित करता है।

(3) सम्बन्ध की आवश्यकतायें – चूँकि मानव एक सामाजिक प्राणी है, अतः वह दूसरों से प्यार मिलता तथा घनिष्ठता के सम्बन्धों की आकांक्षा रखता है। इसलिए वह अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए वह विभिन्न समुदायों, संस्थाओं तथा समूहों की सदस्यता ग्रहण करता है।

(4) प्रतिष्ठा की आवश्यकता – जीवन निर्वाह, सुरक्षात्मक तथा सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद एक व्यक्ति के मन में स्वाभिमान सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद सम्मान प्राप्त करने की इच्छा जाग्रत होती है। वह चाहता है कि दूसरे लोग उसे महत्वपूर्ण समझे तथा उसे सम्मान प्रदान करें। लोग उसके कार्यों की सराहना करें और समाज में उसे प्रतिष्ठा प्राप्त हो । उन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए व्यक्ति समाज में उच्च पदों पर आसीन होना चाहता है और अपने चिंतन एवं व्यवहार से सम्मान अर्जित करने की पेशकस करता है।

(5) आत्म सिद्धि – यह आवश्यकताओं के क्रम में सर्वोच्च स्तर पर है। यह आवश्यकता परिपक्वता की परिचायक है। इसके अन्तर्गत व्यक्ति चुनौतीपूर्ण कार्यों का उत्तरदायित्व वहन करना चाहता है तथा वह विशिष्ट लक्ष्यों को प्राप्त करके अपनी क्षमताओं को अनुभव करता है। इसके कारण कोई व्यक्ति अपनी क्षमताओं का सर्वोत्तम उपयोग कर जीवन में अधिकाधिक संतुष्टि अर्जित करने का लक्ष्य लेता। आत्म सिद्धि व्यक्ति अपनी क्षमताओं के कारण अमूर्त चिंतन, सृजनशीलता तथा कल्पना शक्ति का उपयोग कर समाज, देश,

मानवता तथा ईश्वर के प्रति अपने कर्तव्यों का निर्वाह करना चाहता है। उदाहरण के लिए अवकाश प्राप्त कर लेने के बाद भी प्रोफेसर द्वारा नई पुस्तक लिखा जाना तथा खिलाड़ी द्वारा स्वयं अपने रिकार्ड तोड़कर नये कीर्तिमान स्थापित करना आत्म सिद्धि सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूरा करना है।

मैस्लो के अनुसार उपरोक्त आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु सभी बालक अभिप्रेरित होते हैं। सबसे पहले निम्न स्तरीय आवश्यकताओं की पूर्ति आवश्यक है। मैस्लो ने दैहिक, सुरक्षात्मक तथा सम्बन्धन की आवश्यकताओं को निम्न स्तरीय माना है। इनकी पूर्ति हो जाने के बाद ही प्रतिष्ठा तथा आत्म सिद्धि जैसी उच्च स्तरीय आवश्यकताओं की पूर्ति संभव हो पाती है। किन्तु व्यवहारिक जीवन में पाया गया है कि सभी बालक आत्म सिद्धि के स्तर तक नहीं पहुंच पाते। मैस्लो ने आत्म सिद्धि को सर्वोच्च आवश्यकता माना है लेकिन इस आवश्यकता की पूर्ति तभी संभव होती है जब इसके नीचे की सभी आवश्यकतायें समुचित ढंग से संतुष्ट कर ली जाती है। उदाहरण के लिए कोई भूखा बालक पाठशाला में सृजनशील क्रिया सम्पन्न नहीं कर सकता, मैस्लो का विश्वास है कि आत्मसिद्धि की आवश्यकता बालक में एक जन्मजात शक्ति के रूप में निहित होती है, जिसकी सहायता से बालक अपनी सम्पूर्ण क्षमताओं को चरम सीमा तक विकसित कर सकता है।

आगे चित्र के माध्यम से बालक की उपर्युक्त आवश्यकताओं को महत्व के क्रम में व्यवस्थित किया गया है–

मैस्लो का आवश्यकता सोपान

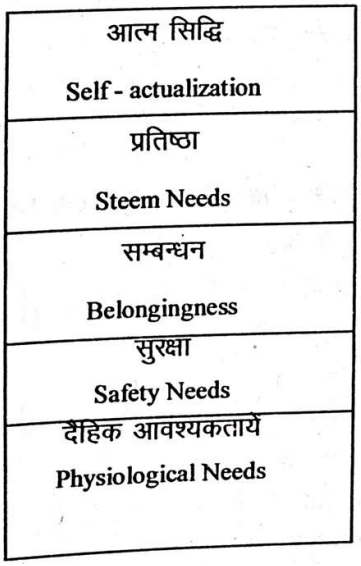

मैस्लो के सिद्धान्त की आलोचनायें :–

यद्यपि मैस्लो के आवश्यकता की क्रमबद्धता के सिद्धान्त को विश्व भर में मान्यता प्राप्त हुई है, तथापि वह आलोचना से परे नहीं है। इस सम्बन्ध में निम्न आलोचनायें प्रमुख हैं–

(1) आवश्यकतायें पांच प्रकार की न होकर मात्र दो प्रकार की होती हैं– जैविकीय आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद ही अन्य आवश्यकतायें जाग्रत होती है।

(2) सभी आवश्यकताओं का महत्व बराबर न होकर भिन्न–भिन्न होता है।

(3) मैस्लो का यह कहना है कि एक आवश्यकता की पूर्ति के बाद ही अगली आवश्यकता जाग्रत होती है, सही नहीं है। कुछ लोगों में कई आवश्यकतायें जैसे सुरक्षा एवं सम्मान साथ साथ हो सकती है, यह अवश्य है कि उसके लिए इनमें से किसी एक का महत्व अधिक हो और एक का कम।

(4) मैस्लो का सिद्धान्त इतने छोटे निदर्शन पर आधारित है कि उसके निष्कर्षों को पूर्ण विश्वसनीय नहीं कहा जा सकता।

मैस्लो की आवश्यकताओं की क्रमबद्धता का सिद्धान्त

बालक के विकास की व्याख्या करने वाले जिन सिद्धान्तों का विवेचन ऊपर किया गया है वे दो वर्गों में विभाजित किये जा सकते हैं। इनमें से कुछ सिद्धान्त ऐसे हैं जो यह मानते हैं कि बालक में व्यवहारगत परिवर्तन किसी मूल प्रवृत्ति अथवा जन्मजात प्रेरकवृत्ति के कारण उत्पन्न और विकसित होते है। ऐसे सिद्धान्तों के अन्तर्गत मनोविश्लेषणवादी सिद्धान्तों को रखा जा सकता है। दूसरे प्रकार के सिद्धान्त वे हैं जो इस बात पर बल देते हैं कि बालक द्वारा अधिकांश व्यवहार परिवेशीय कारकों के प्रभाव में सीखे जाते हैं। ऐसे सिद्धान्तों में बैण्डुरा के सामाजिक अधिगम और पियाजे के संज्ञानात्मक विकास के सिद्धान्त की गणना की जा सकती है।

परन्तु कुछ मनोवैज्ञानिकों ने बालक के विकास की व्याख्या एक अन्य दृष्टिकोण से की है जिसे मानवतावादी दृष्टिकोण कहा जाता है। इस सन्दर्भ में अब्राहम मैस्लो और कार्ल रोजर्स के नाम उल्लेखनीय है। मैस्लो ने 1954 तथा रोजर्स ने 1961 में अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जो अपनी सीमाओं के बावजूद भी बालक के विकास को समझने में सहायक सिद्ध हुए हैं। इन्हीं मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोणों को बाल विकास के मानवतावादी सिद्धान्त मानवतावादी सिद्धान्त के नाम से जाना जाता है। इस सिद्धान्त Self theoryभी कहा जाता है।

इकाई–3
व्यक्तित्व

प्रस्तावना :–

व्यक्तित्व को परिभाषित करना अत्यंत ही कठिन है क्योंकि इस संप्रत्यय का अवैज्ञानिक स्थिति में अत्यंत ही विस्तृत रूप में प्रयोग हुआ है, और इसकी व्याख्या भूत एवं वर्तमान की धारणाओं एवं पूर्वाग्रह के परिप्रेक्ष्य में की जा रही है। चूंकि एक पर्याप्त संतोषप्रद परिभाषा प्राप्त करने के लिये वैज्ञानिक प्रदत्तों की मात्रा अप्राप्त है।

इस प्रकार व्यक्तित्व (personality) की परिभाषा एक अनुभवकर्ता, विचारकर्ता व कार्यकर्ता व्यक्तित्व के रूप में मानी जा सकती है जो प्रायः वातावरण के व्यक्तियों या वस्तुओं से स्वयं से प्रथक समझता है, मानव प्राणी व्यक्तित्व नहीं रखता, अपितु वह स्वयं ही एक व्यक्तित्व होता है, व्यक्ति के व्यक्तित्व का अध्ययन उसके परिवार, रूचियां अभिवृत्तियां तथा व्यक्तिगत सवंद्धताओं के साथ संबंधित हैं, व्यक्ति की समस्यायें समाज के हर पहुलुओं को स्वयं में समाहित करके चलती है, व्यक्तित्व के हर पहलू की जो एकाकी रूप से अर्थ हीन होता है, उक्त पहुलुओं के साथ सकारात्मक संबंद्धता है।

परिभाषा : व्यक्तित्व शब्द Personality का हिन्दी अनुवाद है, यूनानी ड्रेमों में भाग लेने वाले पात्र अपने चेहरे पर विभिन्न प्रकार के Mask (मुखावरण) अथवा नकली चेहरे लगा लेते थे, जिससे यह स्पष्ट होता है कि ड्रामें में उनके कार्य किस ढंग से होंगे, इसी नकाब को Personal कहा जाता था। जिससे personality शब्द बना, अर्थात् personality का प्रारंभिक अर्थ है कि कोई व्यक्ति बाहर से कैसा दिखाई देता है, और दूसरों पर वह कैसा प्रभाव डालता है, साधारण बोलचाल में व्यक्तित्व का प्रयोग इसी अर्थ में होता है, जब हम किसी से सुनते हैं कि अमुक व्यक्ति को कोई व्यक्तित्व नहीं है, तो इसका यही अर्थ लगाते हैं कि वह व्यक्ति दूसरों पर गहरा प्रभाव नहीं डाल पाता है।

व्यक्तित्व से हमें व्यक्ति के व्यवहारों का बोध होता है, व्यक्ति का मोटा–दुबला, लंबा नाटा, गोरा, काला या सुरूप कुरूप होना उसका व्यक्तित्व नहीं है, उसके व्यक्तित्व से व्यवहारों का पता चलता है यद्यपि सभी व्यवहार व्यक्तित्व के परिचय नहीं होते हैं।

Morton prime1924 में लिखा है कि व्यक्ति के सभी जैविक जन्मजात प्रवृत्तियों मनोवेग, झुकाव अभिलाषा, सहजवृत्ति तथा अर्जित प्रवृत्तियों एवं झुकावों का योगफल ही व्यक्तित्व है। स्पष्ट है कि व्यक्तित्व की इस परिभाषा ने सम्पूर्ण मनोविज्ञान को समेटकर रख दिया है।

वाटसन 1924 – यथार्थ सूचनाओं के लिये एक लंबे समय के लिये देखी गयी आदतों एवं आदत तंत्रों का योगफल ही व्यक्तित्व है, उनके अनुसार चरित्र व्यक्तित्व का अंग है।

G. Auport -Presonality is the dynamic organasation with in the determine his individual of those psycological system that determine his unique Adjustment to his environment.

DETERMINANT OF PERSONALITY

1. Biological determinants of personality
2. Social determinants of personality
3. Family determinants of personality
4. Cultural determinants of personality
5. Intelectual determinant of personality
6. Educational of personality
7. Emotional determinant of personality

1. Biological determinants of personality :-

वंशानुक्रम जीवाणविक संगठन के निश्चित तत्वों की एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक की निरन्तरता है, विरासत उन सभी विशेषताओं का योग है, जो जीवात्विक संगठन के द्वारा कारणीकृत या निर्धारित होता है।

2. Social diterminat of personality :-

समाज वह पोषक माध्य है, जिसमें एक व्यक्ति की अस्मिता का धीरे–धीरे निर्माण होता है, इस अस्मिता का निर्धारण उसके समाज की संरचनात्मक विशिष्टता पर आधारित होता है, वह उस अस्मिता को गृहण करता जाता है जो एक साथ वैयक्तिक एवं सामाजिक होती है। व्यक्तित्व अस्मिता के दोनों पहलुओं का चरित्र संरचना के अधिक स्तर व कम परिमार्जन रूपों में प्रदर्शन होता है, वह प्राणी की उन संगठित निरन्तर व्यवहार प्रवृत्तियों को प्रतिबिंवित करता है, जो व्यवहार के विशिष्ट संगठन है, और जिसका अनुसंधान जैविक संस्थतियों एवं प्रारम्भिक अनुबंधनों की अंतक्रिया फलस्वरूप होता है, व्यक्तित्व का मुख्य भाग स्व के सापेक्षित रूप से व्यक्तिगत एवं वैयक्तिगत पहलुओं पर आश्रित है।

3. The cultural diterminant of personality :-

फ्रैंक के अनुसार संस्कृति एक ऐसा प्रभाव है, जो व्यक्ति के व्यक्तित्व निर्माण का निर्धारण उन विचारों सबोंधों एवं विश्वासों के माध्यम से करता है, जो वह साम्प्रदायिक जीवन से प्राप्त करता है, वह संस्कृति को कुछ सुनिश्चित दैहिक समायोजनों एवं आवश्यकताओं की श्रृंखला के संगठन के रूप में देखता है, जो प्रत्यक्षतः समुदाय से उद्भुत होती है, व्यक्तित्व का निर्धारण करने में जिस प्रकार मनोवैज्ञानिक प्रक्रियायें महत्वपूर्ण भूमिका निभाया करती है, उसी प्रकार संस्कृति का भी व्यक्ति को निर्धारित करने में महत्वपूर्ण स्थान है।

4. Intelectual diterminant of personality :-

संवेग चाहे स्थिर हो या अस्थिर व्यक्ति को सापेक्षिक रूप से प्रभावित करता है, वे व्यक्ति को स्व परिवेश के प्रति अनुभूतियों को चित्रित करते हैं तथा व्यवहार को प्रभावित करते हैं, संवेग व्यक्ति के समायोजन संरूप को भी चित्रित करते हैं, तथा व्यवहार को प्रभावित करते हैं। जैसे– कुठित व्यक्ति अक्रामक स्वभाव का हो जाता है। क्योंकि परिवेश उसको समर्थन तथा आत्मविश्वास नहीं प्रदान करता है।

संवेग व्यक्ति के जीवन में प्रसन्नता प्रदान करता है, तथा उसके व्यक्तिक समायोजन में सुधार ला सकता है, यदि संवेग शक्तिशाली हुआ तो वह शारीरिक समस्थिति में अव्यवस्था उत्पन्न कर शारीरिक संतुलन को विध्वंस कर सकता है।

संवेग न केवल व्यक्ति के स्व को प्रभावित करते हैं, वास्तविक व कृत्रिम रूप में जितना अंतर होगा उतना ही अधिक व्यक्ति अपने दुःखत अनुभवों की स्मृतियों को बढ़ाता रहेगा। संवेग की तीव्रता तथा अवधि व्यक्ति के व्यक्तित्व को प्रभावित करती है, सुख एवं दुःखद सांवेगिक प्रक्रियायें संतुष्टि सीमा एवं स्तर के द्वारा प्रभावित होती है।

5. Educational diterminant of personality:-

जीवन के प्रारंभिक काल में बच्चा जो विश्व में निवास करता है, परिवार का विश्व तथा विद्यालय का विश्व यदि दोनों प्रकार के विश्व समाज हैं अर्थात माता–पिता तथा अध्यापकों के मूल्य एवं प्रत्याशाओं में समानता है तो व्यक्ति का विकास ठीक प्रकार से होता है।

व्यक्तित्व के विकास में विद्यालय की भूमिका को नकारा नहीं जा सकता है। माता–पिता के उपरांत शिक्षक का ही व्यक्तित्व के विकास पर प्रभाव पड़ता है। शिक्षा का प्रभाव व्यक्ति को आत्मविश्वास प्रदान करता है।

व्यक्तित्व के शीलगुण (PERSONALITY TRAITS)

जैसे फ्रायड के लिये personality structureकी इकाई (unit) है, Enstrict है। उसी तरह Allport के लिये व्यक्ति संरचना की इकाई Traits है, अलपोर्ट ने व्यक्तित्व की व्याख्या करने में शीलगुण पर काफी प्रभाव डाला है तथा उसका काफी विस्तृत अध्ययन किया है। उनका Ph.D. का प्रबंध Traits पर ही आधारित था।

(1) व्यक्तित्व शीलगुण सिर्फ Theoratical Construct नहीं होते बल्कि वे Real होते हैं, और व्यक्ति के भीतर पाये जाते हैं।

(2) Traits से व्यक्ति का व्यवहार निर्देशित होता है, तथा उसके कारण व्यक्ति एक खास तरह का व्यवहार कर सकने में सफल होता है।

(3) Traits को empirically दिखाया जा सकता है, यह तो अवश्य है कि Physical Traits को देखा नहीं जा सकता।

(4) शीलगुण Traits परिस्थिति के साथ Vary होते हैं, वे एक परिस्थिति में उत्पन्न होते हैं, तो दूसरी में उत्पन्न नहीं होते।

Allportr ने शीलगुणों को दो प्रमुख भागों में बांटा है –

1. Common traits
2. Individual traits

Common Traits से तात्पर्य ऐसे शीलगुणों से होता है जो culture के कई लोगों में पाया जाता है। सचमुच common traits एक तरह की abstraction होती है, जिसे Social Value तथा Social norms की एक झलक मिलती है और इसकी उत्पत्ति एक खास तरह के व्यवहार करने से Social pressure से उत्पन्न होता है । अलपोर्ट ने Traits को महत्वपूर्ण नहीं माना, क्योंकि वे मौलिक ज्तंपजे नहीं है। क्योंकि उससे मात्र surface manifestation की झलक मिलती है तथा व्यक्ति की Invidiuality का एहसास नहीं होता है।

anxity, conformity, social and political attitude common traits के exampleहैं।

Individuals Traits या personal disposition prorphological traits भी कहा जाता है, से तात्पर्य ऐसे Traits से होता है, जो व्यक्ति विशेष में पाया जाता है, तथा जिस पर हम किसी culture के कई व्यक्तियों की तुलना नहीं कर सकते, इससे व्यक्ति की विशेष act of adjustment निर्देशित एवं प्रेरित होती है। यह सबसे महत्वपूर्ण Trait होता है। बाद में Allport ने personal disposition को निम्न तीन भागों में बांटा है–

1- Cordinal predisposition of Traits

2- Central predisposition of traits

3- Secondary predisposition of Traits

Proprium : Allport का मत है कि व्यक्तित्व unreleted traits का मात्र एक बण्डल नहीं होता है, बल्कि इसमें Trait की एक consistency, unity एवं integretion पाया जाता है। इसका मतलब यह हुआ कि personality में कुछ ऐसे principal होते हैं, जो Traits value अभिप्रेरकों को नियंत्रित करते हैं। इस नियम को Allport ने proprium कहा तथा इन सात stage का वर्णन किया।

1. Boddy self– शारीरिक आत्मन
2. Self identity– आत्म पहचान
3. Selfsteem– आत्म सम्मान
4. Selfimage– आत्म प्रतिभा
5. Self as a ritional coper- युक्तिसंगत समायोजन के रूप में आत्मन।
6. Functional Autonomy :

आर.बी. कैटल के personalityTraits

Caltoll ने अपने सिद्धान्त में एक दूसरे से व्यक्तिगत शीलगुणों को तीन भागों में बांटा है।

1. Temperament Traits

2. Dynamic Traits

3. Ability Traits

क्षमता (Ablity) शीलगुण यह बतलाता है कि किसी लक्ष्य के प्रति व्यक्ति कार्य कर सकने में समर्थ हो पायेगा, intollqence क्षमता शीलगुण का एक उत्तम उदाहरण है। Temperament Traits से तात्पर्य व्यक्ति के व्यवहार के generalstyle एव Tempo से होता है तथा dynamictraits से तात्पर्य उन Motivation से होता है, जो व्यक्ति के व्यवहार सामान्य शैली को लक्ष्य की ओर अग्रसरित करते हैं। व्यक्ति की intreast तथा Motivation को इस श्रेणी में रखते हैं।

इस शीलगुण को महत्वपूर्ण माना जाता है तथा DynamicTraits के तीन भाग बताये हैं–

1. Erg.

2. Sentiment.

3. Attitude.

व्यक्तित्व विकास के सिद्धांत

सिगमण्ड फ्रायड – व्यक्तित्व का मनोविश्लेषणात्मक सिद्धांत–

सिगमण्ड फ्रायड (1856–1939) ने करीब–करीब 40 साल के अपने नैदानिक अनुभवों के बाद व्यक्तित्व के जिस सिद्धांत का प्रतिपादन किया है, उसे व्यक्तित्व का मनोविश्लेषणात्मक सिद्धांत कहा जाता है।

मनोविश्लेष्णात्मक सिद्धांत मानव प्रकृति या स्वभाव के बारे में कुछ मूल पूर्वकल्पनाओं पर आधारित है। इन पूर्वकल्पनाओं पर आधारित मनोविश्लेषणात्मक सिद्धांत की व्याख्या निम्नांकित तीन मुख्य भागों में बांटकर की जाती है ।

क. व्यक्तित्व की संरचना

ख. व्यक्तित्व की गतिकी

ग. व्यक्तित्व का विकास

(क) व्यक्तित्व की संरचना :–

फ्रायड ने व्यक्तित्व की संरचना का वर्णन करने के लिए निम्नांकित दो मॉडल का निर्माण किया है–

1. अकारात्मक मॉडल

2. गत्यात्मक या संरचनात्मक मॉडल

अकारात्मक मॉडल – मन का आकारात्मक मॉडल से तात्पर्य वैसे पहलू से होता है जहां संघर्षमय परिस्थिति की गत्यात्मकता उत्पन्न होती है, मन का यह पहलू सचमुच में व्यक्तित्व के गत्यात्मक शक्तियों के बीच होने वाली संघर्षों का एक कार्यस्थल होता है।

फ्रायड ने इसे तीन स्तरों में बांटा है–

- चेतन (conscious)
- अर्द्धचेतन (subconscious)
- अचेतन (unconscious)

(1)चेतन – चेतन से तात्पर्य मन के वैसे भाग से होता है जिसमें वे सभी अनुभूतियां एवं संवेदनाएं होती है, जिनका संघर्ष वर्तमान से होता है। दूसरे शब्दों में चेतन क्रियाओं का सम्बन्ध तात्कालिक अनुभवों से होता है।

(2) अर्द्धचेतन – अर्द्धचेतन से तात्पर्य मन के वैसे भाग से होता है, जो सचमुच में न तो पूर्णतः चेतन होता है और न ही पूर्णतः अचेतन इसमें वैसी इच्छाएँ, विचार, भाव आदि होते हैं जो हमारे वर्तमान चेतन या अनुभव में नहीं होते हैं परन्तु प्रयास करने पर वे हमारे चेतन मन में आ जाते हैं।

(3)अचेतन – अचेतन का शाब्दिक अर्थ है, जो चेतना या चेतन से परे हो। हमारे कुछ अनुभव इस प्रकार के होते हैं जो न तो हमारी चेतन में होते हैं और न ही अर्द्धचेतन में ऐसे अनुभव अचेतन में होते हैं। अचेतन मन में रहने वाले विचार एवं इच्छाओं का स्वरूप कामुक, असामाजिक, अनैतिक तथा घृणित होता है।

गत्यात्मक या संरचनात्मक मॉडल :–

फ्रायड के अनुसार मन के गत्यात्मक मॉडल से तात्पर्य उन साधनों से होता जिनके द्वारा मूल प्रवृत्तियों से उत्पन्न मानसिक संघर्षों का समाधान होता है, ऐसे साधन या प्रतिनिधि तीन है–Id (उपाह), Ego (अह) तथा SuperEgo (पराह)।

- **Id (उपाह)** – उपाहं व्यक्तित्व का जैविक तत्व है, जिसमें इन प्रवृत्तियों की भरमार होती है जो जन्मजात होती है तथा जो असंगठित, कामुक, आक्रामकतापूर्ण तथा नियम आदि को मानने वाली नहीं होती हैं, यह उपाहं नवजात शिशु में पाई जाती है, यह आनंद सिद्धांत द्वारा निर्धारित होती है।
- **Ego (अहं)** – मन के गत्यात्मक पहलू का दूसरा प्रमुख भाग Ego है। जन्म के कुछ दिन बाद तक बच्चा पूर्णतः उपाहं की प्रवृत्तियों द्वारा नियंत्रित होता है। परन्तु सामा. नियमों एवं नैतिक मूल्यों के कारण उनकी ऐसी प्रवृत्तियों या इच्छाओं की पूर्ति नहीं होती है जिसके फलस्वरूप निराशा का अनुभव होता है और उसका संबंध वास्तविकता से सम्बन्धित होता है।

- **Super Ego**– परांह को अहं से ऊँचा कहा गया है, जैसे–जैसे बच्चा बड़ा होता जाता है वह अपना तादात्म माता–पिता से स्थापित करते जाता है। जिसके परिणामस्वरूप वह यह सीख लेता है कि क्या उचित है तथा क्या अनुचित है। यह आदर्शवादी सिद्धांत द्वारा निर्देशित एवं नियंत्रित होती है। इसी अवस्था में समाजीकरण होता है।
- **व्यक्तित्व की गतिकी** –फ्रायड के अनुसार एक मानव जीव जटिल तंत्र हैं, जिसमें शारीरिक एवं मानसिक ऊर्जा दोनों होती है। फ्रायड के अनुसार इन दोनों ऊर्जा का स्पर्श बिन्दु 'Id' है, फ्रायड ने इन ऊर्जाओं से सम्बन्धित कुछ ऐसे संप्रत्यय का विकास किया है, जिनसे व्यक्तित्व गत्यात्मक पहलुओं जैसेमूल प्रवृत्ति चिन्ता तथा मनोरचनाओं का वर्णन होता है।
- **अहं रक्षात्मक प्रक्रम(Ego defence Mechanism)** :–

यह Ego defence mechanism फ्रायड के द्वारा प्रतिपादित किया गया। अहं रक्षात्मक प्रक्रम अहं को चिंताओं से बचा पाता है। रक्षात्मक प्रक्रमों का प्रयोग सभी व्यक्ति करते हैं।

प्रमुख रक्षात्मक प्रक्रम निम्न है–

(i) दमन (Represion) – दमन एक ऐसा रक्षात्मक प्रक्रम है, जिसके द्वारा चिन्ता, तनाव, मानसिक संघर्ष उत्पन्न करने वाली असामाजिक एवं असैनिक इच्छाओं को चेतना से हटाकर व्यक्ति अचेतन में कर देता है।

(ii) यौक्तिकीकरण (iii) प्रतिक्रिया निर्माण
(iv) प्रतिगमन (v) प्रक्षेपण
(vi) विस्थापन

(ग)व्यक्तित्व का विकास – फ्रायड ने व्यक्तित्व विकास की व्याख्या दो दृष्टिकोण ने किया है। पहला दृष्टिकोण इस बात पर बल डालता है कि वयस्क व्यक्तित्व बाल्यवस्था की भिन्न–भिन्न तरह की अनुभूतियों द्वारा नियंत्रित होती है तथा दूसरे दृष्टिकोण के अनुसार जन्म के समय लैंगिक ऊर्जा बच्चों में मौजूद होती है। मनोलैंगिक विकास की पांच अवस्थायें होती हैं–

1. मुखावस्था
2. गुदावस्था
3. लिंग प्रधानावस्था
4. अव्यक्तावस्था
5. जननेन्द्रियवस्था

2. <u>इरिक्सन का मनोसामाजिक विकास का सिद्धांत</u> :–

इरिक्सन (1902) उन मनोविश्लेषकों में से एक है जिन्हें सामान्यतः एक अहं मनोविज्ञानिक Ego के रूप में पहचान की गई है। इरिक्सन के सिद्धांत का केन्द्र बिन्दु यह है कि मानव के व्यक्तित्व का विकास कई पूर्वनिश्चित अवस्थाएं जो सर्वजननी होती हैं

से होकर होता है। जिस प्रक्रिया द्वारा ये अवस्थाएँ विकसित होती हैं, वह विशेष नियम द्वारा नियंत्रित होती हैं। इस नियम को पश्चात् नियम कहा जाता है।

अपनी प्रसिद्ध पुस्तक Childhood and society1963 में इरिक्सन ने मनोसामाजिक अहं विकास की 8 अवस्थायें बतलाया है। इरिक्सन द्वारा प्रतिपादित व्यक्तित्व सिद्धांत में मनोसामाजिक विकास की आठ अवस्थाएं तथा उनमें होने वाले प्रमुख सिद्धांतों का वर्णन निम्न है–

1. <u>शैशवस्था रू विश्वास बनाम अविश्वास</u> :–

यह अवस्था जन्म से लेकर 1 साल तक की होती है और फ्रायड के मुखीय अवस्था से मिलती–जुलती अवस्था है, इस अवस्था में धनात्मक Ego उत्पन्न होता है, जिसे विश्वास कहते हैं विश्वास या आस्था की इस भावना का विकास बच्चों में मातृक देखरेख से उत्पन्न होता है। इस तरह की भावना के विकसित होने से बच्चों में स्वस्थ्य व्यक्तित्व के निर्माण की नींव पड़ जाती है। कभी–कभी यह भी देखने को मिलता है कि कई कारणों से माताएं अपने बच्चे का उतना देख–रेख नहीं कर पातीं या वे मात्र एक अविश्वसनीय उनुपयुक्त तथा तिरस्कृत ढंग से ही देख–रेख करने में समर्थ हो पाती हैं जिससे वह दूसरों से डर एवं उनके प्रति संदेह एवं आशंकाएं जैसी अनुभूतियां विकसित कर लेता है, इस तरह अस्वस्थ्य कर व्यक्तित्व का निर्माण हो जाता है, इस प्रकार बच्चों में अविश्वास की भावना जन्म लेती है।

2. <u>प्रारंभिक बाल्यावस्था स्वतंत्र बनाम लज्जाशीलता</u> :–

यह अवस्था 2साल से 3 साल तक की अवस्था होती है, यह फ्रायड के गुदीय अवस्था से मिलती जुलती अवस्था है, इस अवस्था में स्वतंत्रता एवं आत्मनियंत्रण जैसे शीलगुण का निर्माण होता है तथा इस अवस्था में बच्चे दूसरों पर निर्भर रहते हैं। इस अवस्था में परिपक्वता सामाजिक विभेद तथा शाब्दिक अभिव्यक्ति आदि की क्षमता विकसित हो जाती है और वे किसी कार्य कौशल को करने के लिए उत्सुक रहते हैं, परन्तु जब बच्चे के माता–पिता द्वारा उन्हें छोटा समझकर कार्य नहीं करने दिया जाता है या उसके बदले में माता–पिता स्वयं उसका कार्य कर देते हैं या माता–पिता ऐसे कार्य की उम्मीदें रखते हैं जो उनकी क्षमता के बाहर हो तब उनसे लज्जाशीलता की भावना उत्पन्न होती है।

इरिक्सन के अनुसार इस अवस्था में बच्चों में जो कर्मकाण्डता पाया जाता है उसे विवेक सम्मत कर्मकाण्डता कहा जाता है।

3. <u>खेल अवस्था – पहल शक्ति बनाम दोषिता</u> –

यह अवस्था लगभग 4 साल की आयु से 6 साल की आयु तक होती है। यह वह अवस्था होती है जिसमें बच्चों की सामाजिक दुनिया उसे सक्रियता एवं पहल शक्ति दिखलाने के लिए एक तरह की चुनौती प्रदान करती है। भाषा एवं पेशीय कौशलों का विकास इसी अवस्था में हो जाता है। इसलिए वे घर के बाहर के वातावरण के बच्चों के साथ सामाजिक खेल–कूद में भाग लेना पसंद करने लगते हैं और उन्हें महसूस होने लगता है कि उनका भी एक उद्देश्य है, जब माता–पिता द्वारा बच्चों को इस अवस्था में घर

से बाहर के सामाजिक कार्यों में हाथ बंटाने से रोका जाता है या इस प्रकार उनकी इच्छा पर शारीरिक दण्ड दिया जाता है तो बच्चों में दोषिता का भाव उत्पन्न हो जाता है।

4. स्कूल अवस्था परिश्रम बनाम हीनता :–

मनोसामाजिक विकास की यह चौथी अवस्था होती है, जो 6 साल की आयु से 12 वर्ष की आयु तक होती है। इस अवस्था में बालक औपचारिक शिक्षा एवं संस्कृति के प्रारंभिक कौशलों को सीखता है। इसी समय बालकों में निगमनात्मकर्तव्या, आत्म अनुशासन तथा अनुमोदित नियमों के अनुरूप अपना संबंध साथियों के साथ बनाए रखने की क्षमता से अधिक होता है। इस समय इनमें परिश्रम का भाव विकसित होता है। इस तरह के भाव को स्कूल में शिक्षकों से तथा आस–पड़ोस के सदस्यों से अधिक प्रोत्साहन मिलता है, परन्तु अगर किसी कारण से बच्चों को अपने कौशल पर शक हो जाता है या इन कौशलों को अर्जित करने में असफल हो जाता है, इससे इनमें हीनता या असमर्थता की भावना विकसित होती है।

5. किशोरावस्था – अहं पहचान बनाम भूमिका संभ्रांति :–

मनोसामाजिक विकास की यह पांचवीं अवस्था है जिसे काफी महत्वपूर्ण अवस्था मानी गई है। यह अवस्था 12 वर्ष से लेकर 20 वर्ष तक की मानी गई है। इस अवस्था में किशोरों के बीच अहं पहचान का भाव एक धनात्मक मनोसामाजिक पहलू तथा भूमिका संभ्रांति या जिसे पहचान संभ्रांति भी कहा जाता है। इस अवस्था में किशोरों की जिम्मेदारी बढ़ जाती है क्योंकि आत्मनिर्भरता की ओर अग्रसर होते हैं, क्योंकि पारिवारिक जिम्मेदारी को बबूबी निभाने का अवसर मिलता परन्तु जब कोई किशोर इस अवस्था अपनी जिम्मेदारियों को निभाने में असमर्थता पाता है तब उसके मन में भूमिका संभ्रांति जन्म लेता है ।

हाल ही में मारकिया (Marcia 1994) ने पहचान निर्माण पर शोध करके इसके चार प्रकार बतलाए हैं जो इस प्रकार हैं–

(a) पहचान उपलब्धि
(b) पहचान विलम्बन
(c) पहचान पूर्वबेदी
(d) पहचान प्रसार

6. तरूण वयस्कावस्था : घनिष्ठता बनाम विघटन :–

मनोसामाजिक विकास की यह छठी अवस्था है, जो सामान्यतः 20 साल की आयु से प्रारंभ होकर 30 साल की आयु तक की होती है। इस अवस्था में व्यक्ति शादी विवाह कर पारिवारिक जिंदगी में प्रवेश करता है, इस अवस्था में व्यक्ति अपने भाइयों बहनों, माता–पिता तथा अन्य संबंधियों के साथ घनिष्ठ संबंध विकसित करता है और अपने व्यक्तित्व का विकास करता है, कभी–कभी वह जब दूसरों के साथ सामाजिक समायोजन नहीं कर पाता तो इसे विलगन या विघटन की अवस्था कहते हैं।

7. मध्यवयस्कावस्था – स्थिरता बनाम जननात्मकता :–

मनोसामाजिक विकास की यह अवस्था लगभग 30 वर्ष से 65 वर्ष तक की होती है। इस अवस्था में व्यक्ति में जननात्मकता से तात्पर्य व्यक्ति द्वारा अपने अगले पीढ़ी के लोगों के कल्याण तथा साथ ही साथ उस समाज के लिए जिसमें वे लोग रहेंगे को उन्नत बनाने की चिंता से होता है। इस अवस्था के मनोसामाजिक संक्राति का सफलतापूर्वक समाधान होने से व्यक्ति में एक विशेष तरह की मनोसामाजिक शक्ति की उत्पत्ति होती है जिसे इरिक्सन ने बंतम की संज्ञा दी है। वयस्कावस्था में इस कर्मकाण्डता की अभिव्यक्ति व्यक्ति में दूसरों के दुःख को समझने तथा उसके कष्ट को निवारण करने की प्रवृत्ति के रूप में विकसित होती है।

8. <u>परिपक्वता रू अहं संपूर्णता बनाम निराशा</u> :–

इरिक्सन के मनोसामाजिक विकास की अंतिम अवस्था परिपक्वता की अवस्था होती है जो लगभग 65 वर्ष तथा इससे अधिक की आयु तक की अवधि को अपने में सम्मिलित करती है। सभी संस्कृति में इस अवस्था को बुढ़ापा की अवस्था कहा गया है, जिसके सामने कई तरह की चुनौतियां होती है जिसमें गिरते हुए शारीरिक स्वास्थ्य एवं शक्ति के साथ उचित समायोजन, अवकाश प्राप्ति से आय में उत्पन्न कमी। इस अवस्था में व्यक्ति का ध्यान भविष्य से हटकर अपने बीते दिनों पर विशेषकर उसमें प्राप्त सफलताओं या असफलताओं की ओर अधिक होता है। इस अवस्था में व्यवहारिक ज्ञान का उद्‌भव होता है और यदि व्यक्ति अपने बीते दिनों में कुछ नहीं कर पाया तब उसमें निराशा उत्पन्न हो जाती है।

3. <u>अलबर्ट बैण्डुरा रू व्यक्तित्व का सामाजिक अधिगम का सिद्धांत</u> :–

व्यक्तित्व का सामाजिक सीखने या अधिगम का सिद्धांत सचमुच मे स्कीनर द्वारा प्रतिपादित व्यवहारवादी सिद्धांत का ही एक विस्तारित रूप है। परन्तु स्कीनर से हटकर इस सिद्धांत में आंतरिक संज्ञानात्मक चरों जो उद्दीपक तथा अनुक्रिया के बीच में मध्यस्थता करते हैं। सामाजिक अधिगम विकास का सिद्धांत में सचमुच में तीन मनोवैज्ञानिकों के सिद्धांतों को रखा गया है– अलवर्ट बैण्डुरा, मार्टिन सोलिगमैन तथा वाल्टर मिसकेल इन तीनों में अलबर्ट बैण्डुरा के सिद्धांत को सबसे अधिक महत्व पूर्ण माना है।

बैण्डुरा (1925) द्वारा प्रतिपादित व्यक्तित्व का सिद्धांत अन्य सामाजिक–सीखना सिद्धांतों के अनुरूप निम्नांकित दो मुख्य प्रस्तावनाओं पर आधारित हैं–

(1) अधिकतर मानव व्यवहार अर्जित होते हैं, अर्थात् व्यक्ति उन्हें अपने जीवन काल में सीखता है।

(2) मानव व्यवहार के सम्पोषण एवं विकास की व्याख्या करने के लिए सीखने का नियम पर्याप्त है।

वैण्डुरा के सामाजिक सीखना के सिद्धांत को निम्नांकित 6 भागों में बांटा गया है–

1. अन्योन्यनिर्धार्यता का संप्रत्यय (concept of reciprocal determination)

2. आत्मतंत्र (self esteem)

3. प्रेरणा (motevation)

4. मॉडलिंग रू प्रेक्षण द्वारा सीखना (modling learning by observation)

5. प्रेक्षणात्मक सीखना की प्रतिक्रियाऐं

6. मापन एवं शोध

1. <u>अन्योन्यनिर्धार्यता का सिद्धांत (Concept of reciprocaldetermination)</u> :–

वैण्डुरा के सिद्धांत में अन्योन्य निर्धार्यता का संप्रत्यय एक काफी महत्वपूर्ण संप्रत्यय है। इस संप्रत्यय के माध्यम से वैण्डुरा यह स्पष्ट करना चाहते थे कि मानव व्यवहार संज्ञानात्मक, व्यवहारात्मक तथा पर्यावरणी निर्धारकों की बीच सतत् अन्योन्य अंतःक्रिया का एक प्रतिफल होता है। इस संप्रत्यय के अनुसार मानव क्रिया में तीन कारकों का परस्पर प्रभाव हमेशा पड़ता है–

1. बाह्य वातावरण (External environment)

2. संज्ञानात्मक एवं आंतरिक घटनाएं

3. व्यवहार (Behaveiour)

1. <u>आत्म तत्रं (Self system)</u> :–

अन्योन्य, निर्धार्यता (reciprocal determenation) के संप्रत्यय से स्पष्ट है कि प्रत्येक चीज परस्पर ढंग से अंतःक्रियात्मक होते हैं। वैण्डुरा ने यह स्पष्ट किया है कि आत्मतंत्र कोई मानसिक एजेन्ट नहीं है, जिससे व्यवहारों का नियंत्रण होता है बल्कि यह एक ऐसा संज्ञानात्मक संरचना है जो व्यक्ति को एक संदर्भ प्रकृम प्रदान तो करता है साथ ही साथ प्रत्यक्षण मूल्यांकन एवं व्यवहारों के संचालन के लिए रास्ता प्रशस्त करता है।

आत्म नियमन व्यवहार में तीन प्रतिक्रियाएँ सम्मिलित हैं–

(अ) आत्म प्रेक्षण (self observation)

(इ) निर्णय प्रक्रिया (judgemental process)

(ब) आत्म अनुक्रिया (self response)

3. <u>प्रेरणा (Motivation)</u> – वैण्डुरा (1977) के लिए प्रेरणा एक संज्ञानात्मक व्याकृति हैं तथा इसके दो स्त्रोत होते हैं– पहला स्त्रोत भविष्य में मिलने वाला पुर्नवलन हैं। इस तरह के पुर्नबलन से व्यक्ति एक खास ढंग से व्यवहार करने के लिए प्रेरित होता है। दूसरा निश्चित लक्ष्य या निष्पादन के वांछित स्तर को निर्धारित करके उसी के अलोक में व्यक्ति अपने निष्पादन का मूल्यांकन करता है। इस प्रयोग के आधार पर बैण्डुरा तथा शुन्क द्वारा इस निष्कर्ष पर पहुंचा गया कि व्यक्ति जब अपने व्यवहार पर सतत् मनन करता है, तथा अपने व्यवहारों का मूल्यांकन करता है, इससे आत्म प्रेरणा मिलती है।

4. मॉडलिंग रू प्रेक्षण द्वारा सीखना :–

वैण्डुरा (1977) के अनुसार व्यक्ति दूसरों के व्यवहारों का प्रेक्षण करके तथा उसे दोहराकर वैसा ही व्यवहार करना सीख लेता है। इसे मॉडलिंग संज्ञा दी जाती है। इस सिलेसिले में वैण्डुरा, रॉस तथा रॉस ने एक लोकप्रिय प्रयोग (Modling) की किया है।

वैण्डुरा द्वारा किये गए शोधों के आधार पर मॉडल को निम्नांकित तीन कारकों को अधिक महत्वपूर्ण बतलाया गया है जिससे मॉडलिंग प्रभावित होती है–

(a) मॉडलिंग की विशेषताएँ

(b) प्रेक्षक की विशेषताएँ

(c) व्यवहार के पुरस्कार

5. प्रेक्षणात्मक सीखना की प्रतिक्रियाएँ :–

वैण्डुरा ने अपने सिद्धांत में मॉडलिंग को प्रभावित करने वाले कारकों की सिर्फ पहचान ही नहीं की है बल्कि प्रेक्षणात्मक सीखना के स्वरूप का विश्लेषण भी किया है और पाया है कि इस तरह का सीखना निम्नांकित चार अंर्तसंबंधित प्रतिक्रियाओं द्वारा नियंत्रित होती है–

(a) अवधान संबंधी प्रतिक्रियाएँ

(b) धाराणात्मक प्रतिक्रियाएँ

(c) पुनरूत्पादक प्रतिक्रियाएँ

(d) प्रेरणात्मक प्रतिक्रियाएँ

मापन एवं शोध (Mesurment and research) :-

वैण्डुरा ने अपने सिद्धांत में व्यक्तित्व मापन के लोकप्रिय प्रविधियों जैसे स्वतंत्र सहचर्य, स्वप्न विश्लेषण या प्रेक्षण प्रविधि का प्रयोग नहीं किया है। उनके अनुसार व्यवहारात्मक तथा संज्ञानात्मक चरों का मापन महत्वपूर्ण है, संज्ञानात्मक चरों के मापन के लिए आत्म– प्रतिवेदन प्रविधियों की सिफारिस की गई है, जैसे आत्म सामार्थता मापन उन्होंने कई व्यवहारात्मक परिहार्य परीक्षण जिसमें 29 एकांश थे पर रेटिग्स करवाकर किया। छात्रों में परीक्षण दुश्चिंता को मापने के लिए एक व्यक्तित्व परीक्षण का निर्माण किया था। इसके अलावा मॉडलिंग अध्ययन में बच्चों के व्यवहारों का अध्ययन प्रत्ययक्ष प्रेक्षण तथा दैहिक मापों के भी आधार पर किया गया। वैण्डुरा ने अपने व्यक्तित्व विकास सिद्धांत में प्रयोग शोध पर अधिक बल दिया है, उन्होंने मॉडलिंग के अध्ययन में विशेषकर टेलीविजन का अक्रामक व्यवहार की उत्पत्ति में पड़ने वाले प्रभावों के अध्ययन में प्रयोगात्मक समूह तथा नियंत्रित समूह में प्रयोज्यों को बांटकर अध्ययन करने में विशेष अभिरूचि दिखलायी है।

इकाई–4
दैहिक विकास

वैसे तो बालक के शारीरिक विकास का अध्ययन मनोवैज्ञानिक जैसे क्षेत्र की वस्तु नहीं समझा जाता, परन्तु शरीर और मन में इतना घनिष्ठ सम्बन्ध होता है कि बिना एक को भलीभांति समझे दूसरे की यथेष्ट जानकारी सम्भव नहीं है । शारीरिक स्वास्थ्य और मानसिक स्वास्थ्य एक दूसरे पर निर्भर होते हैं। शारीरिक तथा मानसिक विकासों के संदर्भ में लोगों के बीच अतैक्य नहीं है कुछ विचारकों की धारणा है, कि जिन लोगों में शारीरिक विकास उत्तम कोटि का होता है, उनके भीतर मासिक हीनता पाई जाती है, इसके बाद जिनका शारीरिक विकास कुटित होता है वे रू मानसिक रूप से अधिक सजग होते हैं, इस प्रकार प्रकृति के रूप क्षतिपूर्ति का प्रबन्धन कर दिया गया है, जिसके कारण एक क्षेत्र में पाये जाने वाले आभाव की पूर्ति दूसरे क्षेत्र द्वारा क्षतिपूर्ति कर दी जाती है। एक विचार का एक वर्ग इस बात को मानता है शारीरिक एवं मानसिक विकास सहभागी है जो बालक बौद्धिक रूप से कुठित होता है उसका शारीरिक विकास भी कुठित होता है। जिन बालकों में प्रखर मस्तिष्क पाया जाता है, उनमें अपेक्षाकृत शारीरिक विकास भी पाया जाता है। कदाचित यह दूसरा विचार सत्यता के अधिक निकट शारीरिक स्वास्थ्य पर ही उसके सामाजिक, संवेगात्मक तथा संवेदिक अनुभूतिक का भी प्रभाव पड़ता है जो बालक बिमारियों के कारण अधिक क्षीर्ण हो जाते हैं वह अन्य बालकों के सम्पर्क में भी कम आते हैं।

गर्भकालीन शारीरिक विकास
(Prenatal development)

जीव वैज्ञानिकों का विचार है कि शारीरिक विकास प्रारम्भ होने के पूर्व प्राणी आकार में केवल पिन के सिरे के बराबर होता है। गर्भकालीन अवस्थाओं में उसके शरीर का विकास प्रारम्भ हो जाता है, महीने वाले इस गर्भकाल का प्रसार गर्भाधान के समय से लेकर जन्म के पहले तक होता है।

इस अवस्था की सबसे प्रमुख विशेषता यह है कि अन्य अवस्थाओं की अपेक्षा इसमें विकास की गति बहुत तेज होती है किन्तु जो परिवर्तन अवस्था में उत्पन्न होते हैं वे विशेष रूप से शारीरिक होते हैं। इन शारीरिक परिवर्तनों का सविस्तार वर्णन आगे किया जाएगा। समस्त शरीर रचना, भार रचना, भार और आकार में वृद्धि तथाआकृतियों का निर्माण इसी अवस्था की घटनाएं होती है।

सम्पूर्ण गर्भकालीन विकास को अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से तीन अवस्थाओं में विभाजित किया जाता है, गर्भधान से लेकर केवल दो सप्ताह की अवस्था को बीजावस्था कहा जाता है। इस अवस्था में प्राणी अण्डे के आकार का होता है। अण्डे के भीतर तो कोष्ठ–विभाजन की क्रिया होती रहती है परन्तु ऊपर से किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं दिखलाई पड़ता है। लगभग एक सप्ताह तक यह अण्डाकार गर्भाशय में तैरता रहता है। जिसके कारण इसे कोई विशेष पोषाहार नहीं मिल पाता परन्तु 10 दिन बाद यह गर्भाशय की दीवार से सट जाता है और माता के शरीर पर भोजन के लिये आश्रित हो जाता है। तीसरे सप्ताह से लेकर दूसरे महीने के अन्त तक गर्भकालीन विकास की दूसरी अवस्था

होती है जिसे भ्रूणावस्था कहा जाता है इस अवस्था के जीव को भ्रूण कहते हैं विकास की गति बहुत तीव्र होने से सिर की चौड़ाई काफी बढ़ जाती है। 6 वर्ष का होते–होते उसके धड़ की लम्बाई एवं चौड़ाई जन्म के समय की लम्बाई और चौड़ाई की दुगनी, हो जाती है परन्तु 6 वर्ष से किशोरावस्था के प्रारम्भ तक की अवधि में केवल 50 प्रतिशत की अवधि की वृद्धि हो जाती है, जैसे ऊपर संकेत किया जा चुका है। प्रौढ़ावस्था में शरीर का आकार जन्म के समय का आकार का तीन गुना हो जाता है, जहां तक भुजाओं व पैरों के अनुपात का प्रश्न है जन्म के समय भुजायें और पैर छोटे होते हैं, प्रथम 2 वर्षों में ही भुजाओं और हथेलियों की लम्बाई तेजी से बढ़ती है, 8 साल में यह बढ़कर डेढ़ गुना हो जाते हैं पुनः 8 साल तक इनका विकास मन्द गति से होता रहता है किशोरावस्था के शुरू होने के समय उनको ल. जन्म समय की लम्बाई 4 गुनी और परिपक्वता तक 5 गुनी हो जाती है, किशोरावस्था के पहले बालकों की भुजायें और पैर पतले ही रहते हैं, परन्तु उसके बाद मांसपेशियों के विकास के कारण वे धीरे–धीरे मोटे होने लगते हैं।

<u>हड्डियों का विकास</u> :–

शरीर के आकार की ही भांति हड्डियां भी पहले दो वर्षों में तेजी से विकसित होती है और उसके बाद उनके विकास की गति मन्द पड़ जाती है, यह सन्धि की अवस्था में भुजाओं और पैरो की लम्बी हड्डियां किनारे की ओर बढ़ने लगती है कमर की हड्डी बढ़ने से शरीर की चौड़ाई बढ़ जाती है। 2 वर्ष की आयु में बच्चे की कलाई में केवल 2 तीन हड्डियां ही होती हैं, 67 वर्ष में यह 6–7 हो जाती है, 12 से 15 के बीच एक आठवीं हड्डी भी विकसित हो जाती है जन्म के कुछ समय बाद 7तक हड्डियां बहुत कोमल एवं लचीली होती है, हड्डियों की मजबूती के लिये कैल्शियम, फास्फोरस तथा अन्य मिनरल तत्वों की आवश्यकता पड़ती है।

<u>किशोरावस्था में शारीरिक विकास</u>
(Physical development in adolescence)

किशोरावस्था में तीव्र गति से होने वाले शारीरिक विकास और यौन परिपक्वता का बालक के मानसिक जीवन पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ता अतः उसके भीतर इस अवस्था में होने वाले शारीरिक परिवर्तनों को भी महत्वपूर्ण समझा जाता है। शारीरिक दृष्टि से पूर्व किशोरावस्था समाप्त होते–होते अर्थात् अठारह वर्ष की आयु में बालक लगभग पूर्णतया परिपक्व हो जाता है लड़कियों में शारीरिक परिपक्वता लड़कों को अपेक्षा दो वर्ष पूर्व ही आ जाती है इसी कारण 14 वर्ष का बालक उसी आयु की लड़की की अपेक्षा कम विकसित दिखाई पड़ता है, अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से किशोरावस्था में होने वाले मुख्य शारीरिक परिवर्तनों को निम्नवत विभिन्न प्रकारों में बांटा जा सकता है।

1. यौन सम्बन्धी मुख्य परिवर्तन
2. यौन सम्बन्धी गौण परिवर्तन
3. ऊँचाई
4. शारीरिक भार

5. शारीरिक अंगों का अनुपात

6. त्वचा तथा बाल

यौन सम्बन्धी मुख्य परिवर्तन से अभिप्राय है, ज्ञाननेन्द्रियों का विकास और परिपक्वता किशोरावस्था के प्रारम्भ होते–होते प्रत्येक यौन के बालकों की ज्ञाननेन्द्रिय परिपक्व तथा क्रियाशील होने लगती है और धीरे–धीरे उनके आकार में वृद्धि होने लगती है। लड़कों के अण्डकोष और लड़कियों के डिंबकोषों में क्रमशः वीर्यकण और रजकण बनकर तैयार होने लगती हैं, जिससे उनमें बच्चे उत्पन्न देखने की संवेदना गर्भस्थ शिशु को नहीं हो पाती कानों का भी विकास पूर्णरूप से जन्म के पूर्व हो गया होता है, परन्तु शिशु को ध्वनि सुनाई नहीं पड़ती इस सन्दर्भ में अनेक प्रयोगात्मक अध्ययन हुये है, अनुमान है कि जनम के कुछ सप्ताह के पहले शिशु बहुत तेज ध्वनि जैसे पिस्टल की आवाज को सुन सकता है। बर्नाड तथा सेन्टांग का कहना है कि गर्भस्थ शिशु जन्म के कुछ सप्ताह पहले कई तीव्रताओं की ध्वनियों को सुन पाता है,रस संवेदना से सम्बन्धित सभी अंग जैसे– जीभ, टान्सिल, गला आदि विकसित हो जाते हैं परन्तु जन्म के पूर्व ये अंग रस उत्तेजनाओं से प्रभावित नहीं हो पाते गर्भकालीन अवस्था में नाक की रचना भी पूर्ण हो चुकी रहती है, परन्तु जब तक नाक की नली में हवा न भर जाये, भ्रूण संवेदना सम्भव नहीं हो पाती है। स्पर्श की संवेदना सबसे पहले नाक और मुंह के भागों में विकसित हो पाती है और फिर क्रमशः शरीर के अन्य भागों में स्पष्ट क्षमता फैलती है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि ताप संवेदनशीलता भी जन्म के पूर्व विकसित हो चुकी होती है। गर्मी के अद्यीपक कम तथा ठण्डक के उद्यीपक अधिक सीमा तक प्रभाव डालते हैं गर्भकाल में पीड़ा से सम्बन्धित स्नायुओं का विकास कम हुआ रहता है।

Post-natal Development
नवजात शिशु में शारीरिक विकास
(Physical development of the neonate)

जीवन के पहले महीने में बच्चे को नवजात शिशु कहते है, यह समय बच्चे के लिये बड़ा महत्वपूर्ण होता है क्योंकि यह गर्भाशय से निकलने के बाद बाहर परिवेश के साथ स्वयं को समायोजित करने का प्रयास करता है उस समायोजन प्रक्रिया में उसे सांस लेने की क्रिया रक्त संचालन पाचन क्रिया तथा ताप नियंत्रण को दुरूस्त रखने की आवश्यकता होती है उसके अन्दर घटित होने वाले शारीरिक विकास तथा अन्य विशेषताओं का संक्षिप्त विवरण नीचे प्रस्तुत है।

जन्म लेने पर सामान्य नवजात शिशु की लम्बाई 17 से 21 इन्च के बीच होती है और वजन में लगभग 7–8 पौण्ड के होते हैं परन्तु गर्भकालीन आहार तथा माता की शारीरिक मानसिक दशाओं के कारण नवजात शिशुओं की लम्बाई और भार में महत्वपूर्ण व्यक्तिगत भिन्नतायें पायी जाती है आमतौर से देखा जा सका है कि जन्म के समय लड़कों की औसत लम्बाई लड़कियों की औसत लम्बाई से कुछ अधिक होती है नवजात शिशु का शारीरिक अनुपात वयस्को के कारण शारीरिक अनुपात से भिन्न होता है जन्म के समय बच्चे के सिर को अनुपात सम्पूर्ण शरीर की तुलना में एक चौथाई होता है जबकि किसी वयस्क के भीतर यह अनुपात 1 ध्7 पाया जाता है इसी प्रकार उसके मस्तिष्क को ढकने

वाली खोपड़ी और उसके मुखमण्डल में 8:1 का अनुपात होता है जबकि प्रौढ़ व्यक्ति में यह अनुपात घटकर केवल 1:2 रह जाता है नवजात शिशुओं के कन्धे पतले, गर्दन संकरी, पेट कुछ लम्बी नाभि कुछ पिचटी और जबड़े अविकसित होते हैं, सिर की तुलना में भुजाएं पैर तथा धड़ आकार में छोटे होते हैं, प्रौढ़ावस्था में बच्चों के सिर का आकार दोगुना धड़ के तीन गुना भुजाओं का चार गुना तथा पैर का आकार पांच गुना विकसित हो जाता है।

नवजात शिशु के बाल भूरे और रेशम की तरह मुलायम होते हैं परन्तु कुछ शिशुओं के बाल काले एवं घने भी देखे जाते हैं कुछ शिशुओं के पीठ पर भी बाल पाये जाते हैं जो शीघ्र झड़ जाते हैं, आंखों में परिपक्वता होने पर भी उनकी गति अनियंत्रित ही होती है। आंसू ग्रन्थि अभी क्रियाशील नहीं होती इसलिये नवजात शिशु के रोने के आंसू नहीं निकल पाते जहां तक मांसपेशियों का प्रश्न है इनकी मांसपेशियां छोटी और कोमल होती है हाथ और भुजाओं की मांसपेशियां पैरो और गर्दन की मांसपेशियां अधिक विकसित होती है इनकी हड्डियां भी अत्यन्त कोमल एवं लचीली होती है जन्म के कुछ ही देर बाद शिशुओं में सांस लेने तथा मल त्यागने की क्रियाएं शुरू हो जाती है। जन्म के साथ ही बच्चा रोने लगता है और रोने के फलस्वरूप उसके फेफड़े अपना कार्य करना शुरू कर देते हैं और सांस की क्रिया शुरू हो जाती है। शिशु को होठ छूने से उसके मुंह की सहज क्रियाएं जैसे चूसने की क्रिया जारी हो जाती है। जन्म के कुछ घंटों बाद ही मल–मूत्र त्यागने की क्रियाएं शुरू हो जाती है।

नवजात शिशु में हृदय धड़कन और सांस की क्रिया वयस्कों की अपेक्षा अधिक तेज गति से चलती है शिशु में जन्म लेने के पूर्व ही हृदय की क्रिया प्रारम्भ हो जाती है। अनुमान किया जाता है कि गर्भकालीन अवस्था में दूसरे या तीसरे सप्ताह से ही हृदय की क्रियाशीलता प्रारम्भ हो जाती है और पांचवे महीने तक तो इसकी गति काफी तेज हो जाती है इस अवस्था में 150 से 155 धड़कने प्रति मिनट के हिसाब से देखी गई हैं किन्तु जन्म का समय आते–आते यह संख्या घटकर लगभग 130 रह जाती है जन्म के बाद 2 वर्षों के भीतर हृदय की धड़कन में तेजी से गिरवट देखी जाती है, प्रौढ़ावस्था तक पहुंचते–पहुंचते हृदय की धड़कनों की संख्या घटकर लगभग 80 प्रति मिनट रह जाती है। किन्तु आय में वृद्धि के साथ–साथ उसमें वृद्धि होने लगती है। जहां तक सांस की गति के प्रश्न है, आमतौर पर नवजात शिशु प्रति मिनट 32 बार सांस लेता है। किन्तु रोते समय यह संख्या बहुत अधिक 100 तक पहुंच जाती है।

नवजात शिशुओं का अधिकांश समय सोने में व्यतीत होता है, मालिश होने और दूध पिलाने के बाद शिशु शीघ्र ही सो जाता है और पुनः मालिश के समय उसके भीतर शारीरिक गतियां दिखलाई देने लगती है। शिशु भूख लगने, शोरगुल होने या तेज प्रकाश के कारण भी जाग उठता है, दिन रात में लगभग 20 घंटे का समय नवजात शिशु सोने में व्यतीत करता है। नवजात शिशुओं को पैदा होते हैं बाहरी भोजन मिलने लगता है।

अतः इसके भीतर अमाशय की क्रियाएं भी प्रारम्भ हो जाती है जब शिशु को भूख लगती है तो उसके पेट की अंतिडियो में सकुचन तेजी से होने लगता है तेजी से भूख लगभग 2 या 5 घंटों में शिशु का पेट खाली हो जाता है और उसे पुनः लगती है। शिशु आमतौर से 24 घंटों में 4–5 बार मल त्याग और 16–17 बार पेशाब करता है।

टोल्फ ने नवजात शिशुओं की विविध क्रियाओं का अवलोकन कर बताया है कि उनके भीतर निम्नलिखित छः दशायें देखी जा सकती है

(1) नियमित निंद्रा (Regular sleep) :– इस दशा में नवजात शिशु लगातार आंखे बन्द रखता है, उसकी सांस नियमित रूप से चलती है और वह कभी–कभी चौंकने के अतिरिक्त कोई शारीरिक गति नहीं प्रदर्शित करता है।

(2) अनियमित निंद्रा (Irregularsleep) :– इसमें भी शिशु आंखे लगातार बन्द रखता है परन्तु उसके अंगों में छोटी–छोटी गतियां होती रहती हैं सांस की गति तेज रहती है और शिशु आंखे जल्दी–जल्दी घुमाता है।

(3) ऊँघना (Drowsiness) :– बच्चा अपनी आंखे जल्दी–जल्दी खोलता और बन्द करता रहता है। परन्तु वह शान्त बना रहता है ।

(4) सचेत निष्क्रियता (Alert Inactivity) :– इस दशा में शिशु की आंखें खुली रहती है। वह सचेष्ट तो रहता है परन्तु शान्त और तनाव मुक्त दिखाई पड़ता है।

(5) सजग क्रियाशीलता (Waking activity) :– इस दशा में शिशु की आंखे खुली रहती है। वह अंगों को हिलाता–डुलाता है और अनियंत्रित रूप से सांस लेता है। उसके सामने से यदि कोई व्यक्ति गुजरता है तो वह चौकन्ना हो जाता है और उसकी ओर अपनी आंखे मोड़ लेता है। बच्चों के हंसने या रोने को भी वह सुनता है।

(6) रूदन (Crying) :– इस दशा में शिशु की आंखें अधखुली या बन्द रहती है वह हाथ–पैर भी पटकता है और रोता है, शिशु प्रायः भूख लगने पर अथवा किसी शारीरिक कष्ट जैसे अधिक गर्मी, सर्दी या कोलाहल के कारण रूदन करता है। उपरोक्त सभी दशायें प्रायः सभी शिशुओं में लगभग समान पाई जाती है।

बचपनावस्था में शारीरिक विकास बचपनावस्था
(Physical Development in Babyhood)

लम्बाईमें वृद्धि :–

जैसा पहले बताया जा चुका है, जन्म से प्रथम दो वर्षों में शारीरिक विकास की गति बहुत तीव्र होती है। हरलॉक के अनुसार जन्म के बाद पहले चार महीने में बच्चा सामान्यतया तीन इंच बढ़ता है और आठ महीने की अवस्था में वह 25 से 27 इंच तथा पहला साल समाप्त होते–होते 27 से 29 इंच लम्बा हो जाता है, दूसरे वर्ष में बच्चा लगभग 4 इंच और लम्बा होकर 32 इंच का हो जाता है परन्तु प्रथम छः वर्ष समाप्त होने पर बालक, जन्म के बाद तक केवल 3 इंच प्रतिवर्ष के हिसाब से लम्बाई वृद्धि होती है। बाल्यावस्था में शारीरिक विकास की गति धीमी होने के कारण ही ऐसा होता है 12 वर्ष का सामान्य बालक लगभग 55 इंच लम्बा होना चाहिए । परन्तु लम्बाई पर विकास में व्यक्तिगत और यौन भिन्नताएं भी प्रधान रूप से अपना प्रभाव डालती है जन्म से 12 वर्ष तक लड़कों की लम्बाई लड़कियों की अपेक्षा कुछ अधिक रहती है उसके बाद लड़कियों सामान्य आयु के लड़कों से लम्बी हो जाती है परन्तु 15 या 16 से वर्ष की आयु में दोनों बालकों की

लम्बाई बराबर हो जाती है पुनः लड़के लम्बे हो जाते हैं और लड़कियों की बाढ़ रूक जाती है जिन बालक–बालिकाओं की शुरू अवस्था में लम्बाई सामान्य बालकों से अधिक होती है, वे प्रौढ़ावस्था में अधिक लम्बे होते हैं बालकों की लम्बाई पर सामाजिक आर्थिक दशाओं, जातिय भिन्नतायें तथा बौद्धिक भिन्नताओं का भी प्रभाव देखा गया है। मेरेडिथ लने देखा कि उच्च स्तरीय व्यवसाय के लोगों के बच्चे श्रमिकों के बच्चों की अपेक्षा कुछ अधिक लम्बे होते हैं। विभिन्न जातियों के बच्चों को लम्बाई में भी भिन्नता पाई जाती है। नीनियों, नेपालियों और भूटानियों के बच्चे अफ्रीकन और जर्मन बच्चों से काफी छोटे होते हैं। हॉलिंगवर्थ ने बुद्धि परीक्षाओं में देखा कि ऊंची 1.0 वाले बालक कम 10 वाले बालकों से कुछ ऊंचे थे। काट्ज का भी यह मत है उसके अनुसार, सामान्य बच्चों की अपेक्षा उत्कृष्ट बच्चे बड़े होते हैं और उत्कृष्ट की अपेक्षा प्रतिभाशाली बच्चे अधिक लम्बे होते हैं जिन बालकों में कोई विशेष शारीरिक रोग या विकृति पाई जाती है, उनकी लम्बाई भी कुंठित हो जाती है।

भार में वृद्धि :–

जन्म के समय बच्चे का वजन लगभग 7 या 8 पौंड होता है। लड़कियों का भार लड़कों की अपेक्षा कुछ कम होता है। जन्म के बाद पहले सप्ताह में शिशु का भार कुछ घट जाता है। परन्तु 4 मास का बच्चा 14–15 पौंड का हो जाता है तथा पहला साल समाप्त होते–होते उसका भार लगभग 20 पौंड का हो जाना चाहिए । दो वर्ष के अन्त में सामान्य बालक का भार 25 पौंड हो जाता है जिन बच्चों को ऊपर का दूध पिलाया जाता है उनका भार उन बच्चों से कम होता है जो माता का दूध पीते हैं। तीन साल से 10–12 वर्ष तक भार में प्रतिवर्ष 3–4 पौंड की वृद्धि होती है। नौ से दस वर्ष तक लड़कियों के वजन में अधिक वृद्धि हो जाती है। जो हारलॉक के अनुसार लगभग 14 पौंड प्रतिवर्ष होती है, बालकों के भार में सबसे अधिक वृद्धि 14 – 15 वर्ष की आयु में होती है जो 15 पौंड प्रतिवर्ष होती है। लम्बाई की भांति बालकों के भार में भी व्यक्तिगत भिन्नताएं देखी जाती है। लड़के समान आयु की लड़कियों से प्रायः भारी होते हैं। हॉलिगवर्थ के अनुसार बुद्धिमान बच्चे अपनी लम्बाई के हिसाब से भार में अधिक होते हैं। बच्चों का वजन गर्मी के कारण प्रायः घट जाता है और ठंडे मौसम में कुछ बढ़ जाता है।

शारीरिक अनुपात :–

जन्म के बाद बच्चे के शरीर का केवल आकार ही नहीं बढ़ता, बल्कि शरीर के विभिन्न अंगों का अनुपात भी बदलता रहता है। किसी निश्चित आयु में पहुंचने पर ही कोई अंग अपना उपयुक्त अनुपात प्राप्त कर पाता है परन्तु 16–17 वर्ष की उम्र तक शरीर के प्रायः सभी अंग एक सुनिश्चित अनुपात में आ जाते हैं और बालक का शरीर प्रौढ़ों के शरीर से बहुत अधिक मिलने–जुलने लगता है। शरीर के अन्य अंगों को अपेक्षा सिर को आकार में कम विकसित होने की आवश्यकता पड़ती है क्योंकि उसका आकार जन्म के समय ही काफी बड़ा रहता है। जन्म के बाद परिपक्वता तक सिर लगभग दो गुना ही विकसित होता है। हालांकि इसका क्षेत्रफल सम्पूर्ण शरीर के क्षेत्रफल का केवल 7 प्रतिशत ही हो पाता है परन्तु पांच वर्ष की अवस्था में यह अनुपात घटकर 5 प्रतिशत अनुपात 1 और 18 वर्षों में अनुपात 2 का हो जाता है 5–6 वर्षों की आयु तक मुखमण्डल बहुत छोटा और अविकसित सा दिखलाई पड़ता है परन्तु उसके बाद दांतों के निकल जाने और जबड़े तथा ठुड़ी के

विकसित हो जाने के पश्चात् चेहरा लम्बा लगने लगता है माथे की चौड़ाई बढ़ जाती है तथा होठ कुछ भरे हुये लगने लगते है, फलस्वरूप वयः सन्धि के प्रारम्भ होते–होते शक्ल बहुत कुछ बदल जाती है, लगभग 5 वर्ष की अवस्था तक बच्चों की नाक छोटी और कुछ चिपटी होती है इस अवधि के बाद नाक लम्बी होने लगती है और एक विकसित रूप ग्रहण कर लेती है। लगभग 14 साल में नाक का प्रौढ़ा आकार हो जाता है सम्पूर्ण शारीरिक अंगों में कदाचित धड और पैरो का जल्दी ही आकार में बढ़ना अत्यन्त आवश्यक है जब तक धड़ और पैर चौड़े मोटे नहीं होंगे बच्चे के लिये बैठना, चलना, खड़ा होना कठिन होगा इसलिये पहले ही वर्ष में बच्चे के कारण इस अवस्था में भ्रूण के भीतर अनेक परिवर्तन हो जाते हैं शरीर के प्रायः सभी मुख्य अंगों का निर्माण इसी अवस्था में होता है दूसरे महीने के अन्त तक भ्रूण की लम्बाई – सवा इंच से 2 इंच तक तथा उसका भार लगभग दो ग्राम हो जाता है परन्तु भ्रूण का स्वरूप वैसा नहीं होता है जैसा कि नवजात शिशु का होता है इस अवस्था में सिर का आकार अन्य अंगों के अनुपात में बहुत बड़ा होता है, कान भी सिर से काफी नीचे स्थित होते है, नाक में भी केवल एक ही छिंद्र होता है और मत्थे की चौड़ाई आवश्यकता से अधिक होती है। भ्रूण का निर्माण तीन परतों से होता है। बाहरी परत एक्टोडर्स वीच वाली परत को मेसोडर्म और आन्तरिक परत को एन्डोडर्म कहा जाता है इन्हीं तीन परतों से शरीर के विभिन्न अंगों का निर्माण होता है। बाहरी परत से त्वचा, नाखून, दांत, बाल तथा नाड़ी मण्डल का निर्माण होता है। इनमें से मस्तिष्क का विकास तो बड़ी तेजी से होता है। चार सप्ताह की अवस्था में मस्तिष्क के विभिन्न भागों को पहचाना जा सकता है। बीच की परत से त्वचा की भीतरी परत तथा मांसपेशियों का निर्माण होता है। इसी तरह आन्तरिक परत से फेफड़े यकृत तथा पाचन क्रिया से सम्बन्धित अंग और विभिन्न ग्रन्थियां बनती है।

भ्रूणावस्था शरीर के विभिन्न अंगों के निर्माण की अवस्था होती है। इसलिए यदि किसी प्रकार की बाधा उत्पन्न हो जाए तो शरीर की रचना विकृत हो सकती है। गर्भकालीन अवस्था में प्रत्येक शारीरिक अंग के निर्माण के लिए एक निश्चित समय निर्धारित होता है। यदि किसी अंग के निर्माण के समय कोई बाधा उत्पन्न हो जाए तो बाद में उस अंग का निर्माण होना सम्भव नहीं हो पाता क्योंकि तब तक किसी दूसरे अंग के निर्माण का समय आ गया होता है। इस अवस्था में गर्भित महिलाओं को बड़ी सावधानी बरतने की आवश्यकता होती है। शारीरिक दुर्बलता, धक्का लगने, गिर जाने, मानसिक तनाव तथा पोषक तत्वों के न मिलने के कारण भ्रूण गर्भाशय की दीवार से अलग हो जाता है और गर्भपात की सम्भावना बढ़ जाती है।

गर्भकालीन विकास की तीसरी और अंतिम अवस्था गर्भस्थ शिशु की अवस्था होती है। इस अवस्था को निर्माण की अवस्था नहीं बल्कि विकास की अवस्था ही समझना चाहिए क्योंकि भ्रूणावस्था में जिन–जिन अंगों का निर्माण हो गया होता है, उन्हीं का विकास इस अवस्था में होता है। प्रत्येक महीने गर्भस्थ शिशु के आकार तथा भार में वृद्धि होती रहती है, पांचवे महीने में इसका भार दस आँस तथा लम्बाई दस इंच होती है। आठवें महीनें में शिशु का वजन औसतन पांच पौंड हो जाता है और लम्बाई 18 इंच तक हो जाती है।

जन्म के समय शिशु का भार सात साढ़े सात पौण्ड तथा लम्बाई 20 इंच होती है। इस अवस्था में हृदय, फेफड़े, नाड़ी मण्डल कार्य भी करने लगते हैं। यहां तक कि यदि सातवें महीने में ही बच्चा पैदा हो जाए तो वह जीवित रह सकने योग्य होगा। इस अवस्था

की एक मुख्य विशेषता यह होती है कि शरीर के विभिन्न अंग एक निश्चित अनुपात में आने लगते हैं, भ्रूणावस्था में सिर बहुत बड़ा और हाथ पैर बहुत छोटे आकार के रहते हैं परन्तु इस अवस्था में क्रमशः सिर अपने समान आकार को प्राप्त कर लेता है, धड़ लगभग 8 या 9 गुना विकसित हो जाता है हाथ पैर भी लगभग 8 गुना विकसित होकर लम्बे हो जाते हैं। जहां तक आंख का प्रश्न है जन्म के 4 महीने पूर्व फोविया और 2 मास पहले नेत्रपटन बनकर तैयार हो सकते हैं परन्तु निरन्तर में अंधेरे में रहने के कारण आंखों को प्रकाश की उत्तेजना प्रभावित नहीं कर पाती और करने की क्षमता आ जाती है बालकों के भीतर वीर्यपतन और बालिकाओं में रजस्वला की घटनाएं किशोरावस्था में घटित होने लगती है और उन्हें किशोर–किशोरियों की यौन परिपक्वता का मुख्य लक्षण माना जाता है।

संवेगात्मक विकास (Emotional Development) :–

मानव जीवन का संवेगात्मक पक्ष बड़ा महत्वपूर्ण व बलवान होता है। छोटे बच्चे हर समय किसी न किसी संवेग का अनुभव करते रहते हैं। प्रसन्नता, हर्ष, आनन्द, दया, सहानुभूति और प्रेम आदि के संवेग बच्चे के शारीरिक व मानसिक स्वास्थ्य के लिए आवश्यक होते हैं परन्तु क्रोध, ईर्ष्या तथा चिन्ता अस्वस्थ्य संवेग कहे जाते हैं और बचपन से ही बालक पर बुरा प्रभाव डालते हैं। संवेग का बालक के व्यक्तिगत और सामाजिक समायोजन के साथ गहरा सम्बन्ध होता है।

मनोवैज्ञानिकों ने अधिगम और व्यवहार पर संवेगात्मक अनुभूतियों के प्रभाव का अध्ययन करके प्रदर्शित किया है कि संवेग प्राणी के भीतर उदोलन (Around) की दशा उत्पन्न करते हैं जिसके कारण वह कोई प्रतिक्रिया अधिक मानसिक सजकता (Alertness) तथा सतर्कता (Vigilance) के साथ प्रदर्शित करता है, इस प्रकार संवेग बालको के स्वास्थ्य, समायोजन तथा व्यवहार तीनों में घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित होते हैं।

संवेग को सर्वप्रथम एक प्रेरक वृत्ति के रूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेय लीपर (Leepar) महोदय को है। जिन्होंने 1948 में संवेगों का अभिप्रेरण सिद्धान्त प्रतिपादित किया और बतलाया कि संवेग की प्रतिक्रिया संगठित एवं उद्देश्य पूर्ण होती है। अनेक मनोवैज्ञानिक यह मानते चले आ रहे हैं कि संवेगात्मक व्यवहार असंगठित होते हैं और व्यक्तिगत संवेग की दिशा में असन्तुलित या अस्त–व्यस्त हो जाने के कारण सामान्य कोटि का व्यवहार प्रदर्शित नहीं कर पाता। लीपर ने इस धारणा को पूर्ण रूप से अस्वीकार कर दिया है और बताया कि संवेग व्यक्ति के भीतर एक अग्निप्रेरणात्मक दशा (Motivational) उत्पन्न कर देता है जिसके फलस्वरूप उसकी विभिन्न क्रियाओं के बीच अधिक तालमेल दिखाई पड़ने लगता है। जब संवेग का प्रभाव व्यक्ति के ऊपर बना रहता है वह एक निश्चित दिशा में कार्यरत रहता है। उदाहरण के लिए क्रोध और प्रेम के संवेग को लिया जा सकता है हम जिस व्यक्ति पर क्रोधित होते हैं उसे नुकसान पहुंचाने की कोशिश करते रहते हैं। इसी प्रकार प्रेम से वशीभूत होकर हम अपने प्रेम पात्र को प्राप्त करने हेतु सुनियोजित ढंग से प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील बने रहते हैं।

संवेग विकास के सिद्धान्त :–

शिशुओं के भीतर संवेग का उद्‌भव एवं विकास कब और कैसे होता है इस सम्बन्ध में मनोवैज्ञानिकों के बीच मतैक्य का अभाव है। संवेग विकास के सन्दर्भ में मुख्यतः दो सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। जिनका विवरण निम्नलिखित प्रस्तुत है–

(1) प्राथमिक संवेगों का सिद्धान्त :–

इस सिद्धांत का प्रतिपादन प्रसिद्ध व्यवहारवादी मनोवैज्ञानिक वाटसन ने किया है। अपने अध्ययनों के आधार पर वाटसन ने बतलाया है कि शिशुओं के भीतर तीन संवेग अर्थात भय, क्रोध और प्रेम (Fear, Anger and Love) जन्म से ही पाये जाते हैं। उसने इन तीनों संवेगों को मौलिक संवेग माना है। प्रयोग में नवजात शिशु और कुछ महीने के बच्चों (Babies) की संवेगात्मक प्रतिक्रियाओं का निरीक्षण किया। इनमें भय, क्रोध, प्रेम की प्रतिक्रियाएं उत्पन्न करने के लिए उनके सामने विभिन्न प्रकार की उत्तेजनाओं का प्रयोग किया जो प्रौढ़ों में उन संवेगों को उत्पन्न करती है। तेज ध्वनि तथा मुंह में हवा देकर बच्चों की प्रतिक्रियाओं का निरीक्षण किया गया। इन उत्तेजनाओं के द्वारा उनमें भय का संवेग उत्पन्न हुआ जिसकी प्रतिक्रिया में बच्चों के भीतर सांस रोक लेने, रोने–चिल्लाने, हांथ पैर पटकने तथा बेचौन हो जाने की विशेषताएं दिखाई पड़ती है।

(2) विकासात्मक संवेग सिद्धान्त :–

इस सिद्धांत का प्रतिपादन ब्रिजेज (Bridges) ने किया। गेरमैन की भांति ब्रिजेज ने भी इस दिशा में अनेक प्रयोगात्मक अध्ययन करके वाटसन के सिद्धान्त का अध्ययन किया और उसका खण्डन किया। इस सन्दर्भ में ब्रिजेज ने बताया कि नवजात शिशुओं के मुख मण्डल पर किसी विशिष्ट (Specific) संवेग का प्रकाशन नहीं होता है। जब उन्हें किसी बाह्य उत्तेजना द्वारा उत्तेजित किया जाता है तब वे किसी आन्तरिक अवस्था जैसे भूख, प्यास पीड़ा आदि द्वारा प्रभावित होते हैं तो उनके भीतर केवल एक सामान्य उद्दीप्त अवस्था दिखाई पड़ती है उनका सम्पूर्ण व्यवहार संचार (Behavior Pattem) अस्पष्ट होता है और उनके संवेग अलग–अलग दिखाई पड़ता है। संवेगों में स्पष्टता और विशिष्टता तो परिपक्वता आ जाने के बाद ही आती है, अतः शिशु की उद्दीप्ता अवस्था को हम किसी विशिष्ट नाम से नहीं पुकार सकते हैं न तो उसे भय ही कहा जा सकता है और न ही क्रोध। इसलिए यह कहना उचित नहीं कि जन्म के समय शिशु में भय, क्रोध और प्रेम विद्यमान रहता है।

सामाजिक विकास (Social Development)

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। उसके जन्म की कल्पना समाज के बाहर नहीं की जा सकती। जन्म के बाद उत्तरोत्तर उसके समाज का विस्तार होने लगता है। परिवार, पड़ोस, विद्यालय क्लब तथा व्यापक समाज और विभिन्न प्रकार सामाजिक व्यवहारों को सीखता है। समाज का एक योग्य सदस्य बनने के लिए उसे स्वस्थ्य एवं सुन्दरीकरण (Sociolization) की आवश्यकता पड़ती है। जन्म के पश्चात बालक के समाजीकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। समाजीकरण के फलस्वरूप बालक के व्यवहारों में उत्पन्न परिवर्तनों को ही बालक का सामाजिक विकास कहा जाता है।

सामाजिक विकास की प्रमुख अवस्थायें :–

यों तो व्यक्ति का सामाजिक विकास किसी न किसी रूप में जीवन पर्यन्त चलता रहता है। परन्तु जीवन की प्रारम्भिक अवस्थाओं में सामाजिकता अधिक तीव्र गति से विकसित होते हैं। शैशव में सामाजिक विकास का श्री गणेश होता है तथा बचपन व बाल्यावस्था में उसके स्वरूप में अनेक परिवर्तन दिखाई पड़ते हैं।

बचपनावस्था में सामाजिक विकास :–

जन्म के समय शिशु न तो सामाजिक (Social) ही कहा जा सकता है और न असामाजिक (Antisocial) वास्तव में शिशु समाज के प्रभावों से सर्वथा अनभिज्ञ होता है और इसलिए उसे Non-social या Nongreogrious कहा जा सकता है। बच्चों के भीतर सामाजिक विकास की शुरूआत उस समय समझी जाती है जब वह दूसरों के मुस्कराने पर मुस्काता है। यह सभी क्षमताएं जन्म के दूसरे व तीसरे महीने से शुरू हो जाती हैं। जन्म के चौथे और पांचवें महीने के बीच बच्चा अन्य लोगों की उपस्थिति में ऐसी चेष्टाएं करता है, जिससे वे एसे गोद में उठा लेते हैं, वह जन्म के 6 माह पर क्रोध और प्रसन्नता के भाव समझने लगता है।

पूर्व बाल्यावस्था में सामाजिक विकास :–

पूर्व बाल्यावस्था अर्थात जन्म के उसे 6 वर्ष के बीच वह घर से बाहर निकलकर पड़ोसी बच्चों के साथ खेलना प्रारम्भ कर देता है। वे सामूहिक जीवन के महत्व को समझने लगता है, फलस्वरूप उनके भीतर माता–पिता के प्रति आज्ञा और दूसरों के प्रति सहानुभूति के गुण विकसित होने लगते हैं। पूर्व बाल्यावस्था की प्रमुख विशेषताएं निम्न हैं–

(1) खेल (Play)

(2) अनुकरण (Imitation)

(3) सहानुभूति (Sympathy)

(4) सहकारिता (Cooperativeness)

(5) प्रभुत्व (Dominanace)

(6) द्वन्द और आक्रामकता (Quarrel and Aggression)

(7) निषेधात्मकता (Nigativism)

(8) स्पर्धा (Rivalry)

(9) चिढ़ाना व तंग करना (Teasing)

(10) झूठ बोलना और चोरी करना (Lying and Stealing)

<u>उत्तर बाल्यावस्था में सामाजिक विकास</u> :–

पूर्व बाल्यावस्था में बालक के भीतर जिन सामाजिक गुणों का आविर्भाव रहता है उत्तर बाल्यावस्था में अधिकांशतः उन्हीं गुणों का विकास होता है। उत्तर बाल्यावस्था में विकसित होने वाली कुछ सामाजिक विशेषताएं निम्नवत हैं–

1. सामुदायिकता
2. समूह शक्ति
3. मित्रता
4. यौन विरोध
5. नेतृत्व
6. सहयोग
7. सहानुभूति
8. खेल
9. प्रतियोगिता एवं स्पर्धा
10. सहिष्णुता

<u>किशोरावस्था में सामाजिक विकास</u>

किशोरावस्था की सबसे प्रमुख विशेषताओं में सामाजिकता और कामुकता की गणना की जाती है। लगभग तेरह से अठारह वर्षों के बीच बालकों के समाज का क्षेत्र अत्यधिक विकसित हो जाता है। व्यक्ति के मित्रों की संख्या सम्पूर्ण जीवन में किशोरावस्था में अधिक होती है।

किशोर बालक प्रायः बातूनी, साहषी और कर्मठ होता है। बर्हिमुखी प्रवृत्तियों के जाग्रत हो जाने के कारण वह नित्य सभाओं आदि में भाग लेता है। इन सामाजिक परिस्थितियों में उसे आत्म स्थापना और आत्म प्रदर्शन का पर्याप्त अवसर प्राप्त होता रहता है। जो बालक इन अवसरों में आगे आने से हिचकता है वे ख्याति नहीं प्राप्त कर पाते हैं और अर्न्तमुखी बन जाते है अतः उनका सामाजिक विकास कुंठित हो जाता है।

इकाई–5

किशोरावस्था में होने वाले परिवर्तन, विशेषताएं एवं समस्याएं

प्रस्तावना :–

किशोरावस्था के संबंध में यह परम्परागत विश्वास रहा है कि किशोरावस्था विकास की एक क्रान्तिक (Critical) अवस्था है। इस अवस्था के बालक को न बालक कह सकते हैं और न प्रौढ़ व्यक्ति ही कह सकते हैं। इस अवस्था में बालक के शारीरिक और मनोवैज्ञानिक गुणों में परिवर्तन प्रौढ़ावस्था की दिशा में होते हैं। Adalescence शब्द के यदि शाब्दिक अर्थ को देखा जाए तो स्पष्ट होता है कि Adolescence शब्द की उत्पत्ति लैटिन भाषा के शब्द Adalescence से हुई है, जिसका अर्थ है– परिपक्वता की ओर बढ़ना।

जसींल्ड (1978) के अनुसार–''किशोरावस्था वह अवस्था है। जिसमें एक विकासशील व्यक्ति बाल्यावस्था से परिपक्वास्था की ओर बढ़ता है।''

किशोरावस्था की प्रमुख विशेषताएँ (Main Characteristics of Adolescence) :–

1. पूर्व किशोरावस्था की स्थिति अस्पष्ट होती है :–

किशोरावस्था के प्रारम्भ से किशोर यदि बच्चों की तरह व्यवहार करता है तो उससे कहा जाता है कि वह अपनी आयु के अनुसार व्यवहार करे, जब बड़े या वयस्क व्यक्तियों की तरह व्यवहार करता है तो उससे छोटों की तरह व्यवहार करने को कहा जाता है। स्थिति यह होती है कि बेचारे इस युवा किशोर को उसके मित्र और परिवार के लोग न बच्चा समझते हैं और न वयस्क। उसकी स्थिति उसकी आयु के अनुसार स्पष्ट न होकर अस्पष्ट होती है। इस अस्पष्ट स्थिति के कारण उसे अपने चारों ओर के वातावरण में व्यवहार करने में असुविधा ही नहीं होती है ।

2. यह कामुकता के जागरण की अवस्था है :–

हॉल (G.S. Hall, 1904) के अनुसार किशोर में दो प्रकार की भावनाओं का विकास होता है। पहले प्रकार की भावनाएं समाज सम्बन्धी होती है और दूसरे प्रकार की भावनाएं काम (Sex) सम्बन्धी हाल के अनुसार काम शक्ति का उदय किशोरावस्था का एक प्रमुख लक्षण है। किशोरावस्था की काम–शक्ति के विकास की तीन प्रमुख अवस्थाएं हैं।– (1) प्रथम अवस्था में किशोर में स्वप्रेम भावनाओं का विकास होता है। फलस्वरूप वह अपने शरीर को आकर्षक और सुन्दर समझने लगता है। (2)द्वितीय अवस्था में किशोर में सजातीय कामुकता का विकास प्रारम्भ होता है। फलस्वरूप वह समान आयु और समाजीय किशोर के साथ मित्रता की ओर अग्रसर होता है। (3) तृतीय अवस्था में किशोर में विजातीय कामुकता का विकास प्रारम्भ होता है। फलस्वरूप वह विपरीत लिंग के किशोरों की ओर आकर्षित होता है और अपनी काम इच्छाओं की सन्तुष्टि करता है। उनकी यह काम इच्छाएं समान अवस्थाओं के लोगों के लिए हो सकती है और अपने से अधिक आयु वाले लोगों के लिए भी हो सकती है। मनोविश्लेषणात्मक अध्ययनों से यह पता चलता है कि किशोर लड़की

अपनी प्रेमी में पिता का स्नेह और किशोर लड़का अपनी प्रेमिका में मां का स्नेह प्राप्त करना चाहता है। किशोर का काम (Sex) के सम्बन्ध में स्वस्थ ज्ञान कराना उनके हर प्रकार से लाभदायक होता है।

3. निश्चित विकास प्रतिमान :–

बाल्यावस्था की भांति किशोरावस्था का भी एक निश्चित विकास प्रतिमान होता है, चूंकि उसका विकास प्रतिमान निश्चित होता है। अतः उनमें एक निश्चित आयु स्तर पर उस आयु स्तर की विशेषताएं दृष्टिगोचर होती हैं। अपने अध्ययनों के आधार पर फैक (L.K.Frank, 1949) ने बताया कि लगभग सभी किशोर अपनी पारिवारिक निषेधों के प्रति विद्रोही भावनाएं रखते हैं। उनमें उत्सुकता असुरक्षा की भावना, स्वयं के सम्बन्ध में अनिश्चितता और भ्रम भी होता है। किशोरावस्था की वृद्धि के साथ–साथ उनके शारीरिक विकास की गति मंद होती जाती है, किशोरावस्था के अन्त तक शारीरिक परिवर्तन में वृद्धि अपनी चरम सीमा तक पहुंच जाती है। इस अवस्था में व्यवहार सम्बन्धी परिवर्तन और विकास अधिक महत्वपूर्ण होती है।

4. किशोरावस्था एक परिवर्तन व्यवस्था :–

किशोरावस्था, बाल्यावस्था और प्रौढ़ावस्था के बीच के परिवर्तनों की अवस्था है । इस अवस्था के परिवर्तनों के फलस्वरूप बाल्यावस्था के आदते और व्यवहार लक्षण समाप्त होते हाते हैं और प्रौढ़ावस्था की ओर उसका व्यवहार अग्रसर होता जाता है। परिवर्तनों के कारण ही वह यह समझने लग जाता है कि अब उसे अपने पैरों पर खड़ा होना है और जीवन की कठिनाइयों और संबंधों का सामना स्वयं करना है। एक अध्ययन (Cel.Cel Bobie 1949) में यह देखा गया कि किशोरावस्था में कितने और किस प्रकार के परिवर्तन होंगे। यह मुख्यतः इस बात पर निर्भर करता है कि किशोर को इस दिशा में कितना और किस प्रकार का प्रशिक्षण दिया गया है।

5. किशोरावस्था अस्थिरता की अवस्था :–

किशोरावस्था अस्थिरता अपरिपक्वता की ओर संकेत करती हैं। किशोरावस्था की अस्थिरता इस बात का संकेत करती है कि किशोर अपने स्वयं के संबंध में अनिश्चित होता है और वह अपनी नई स्थिति के अनुसार समायोजन करने के लिए प्रयत्नशील होता है। किशोरावस्था ने समायोजन सम्बन्धी अस्थिरता और संवेगात्मक अस्थिरता अधिक मात्रा में होती है।

6. किशोरावस्था समस्या बाहुल्य की अवस्था है :–

किशोरावस्था की आयु को समस्या आयु कहा गया है। इस कथन के दो अर्थ लगाये जाते हैं। प्रथम यह कि किशोरावस्था में किशोरों की अनेक समस्याएं होती है। जिनका समाधान कुछ इस प्रकार आवश्यक है कि समाधान उस किशोर की भी मान्य हो और उस सामाजिक समूह को भी मान्य हो जिसका कि वह सदस्य है। किशोरावस्था समस्या आयु है। इस कथन का यह भी अर्थ है कि किशोर अपने माता–पिता, संरक्षकों अध्यापकों और सामाजिक समूह आदि सबसे लिए किसी न किसी रूप में समस्या होती है।

हरलॉक (1964) का विचार कि हरलॉक का कथन कि किशोर स्वयं के लिए एक समस्या होता है। अधिक सभी प्रतीत होता है, क्योंकि इसी है फलस्वरूप वह भ्रान्त अनिश्चित चिन्तित और उत्सुक होता है।

किशोरावस्था के अनेक समस्याएं होती हैं जिनका वर्णन इसी अध्ययन में किशोरावस्था की समस्याएं शीर्षक के अन्तर्गत किया गया है।

7. <u>यह विकसित सामाजिक की अवस्था है</u> :–

इस अवस्था के बालक के जितने मित्र होते हैं उतने किसी अन्य विकास अवस्था में मित्र नहीं होते हैं। इस अवस्था के बालक का सोशल सर्किल बहुत लम्बा–चौड़ा होता है। उनकी मित्रता, जाति, धर्म, रूप रंग और सामाजिक आर्थिक स्तर आदि सम्बन्धी भेद–भाव से परे होती है, उनकी मित्रता में परस्पर सहयोग और सहानुभूति पर्याप्त मात्रा में दृ दृष्टिगोचर होता है। उनकी मित्रता समलिंगी लोगों से अधिक और विपरीत लिंग के लोगों से अपेक्षाकृत बहुत कम होती है। इसका मुख्य कारण लड़कियों के लिए नियन्त्रण और सामाजिक प्रतिबन्धों का होना है। किशोर की मित्र मण्डली किशोरावस्था समस्या आयु (Problem Age) है। इस कथन का यह भी अर्थ है कि किशोर की मित्र मण्डली का जैसे–जैसे विस्तार होता जाता है, वैसे–वैसे वह अपने पारिवारिक उत्तरदायित्वों का पालन करने में असमर्थता का अनुभव करने लग जाता है। परिवार के प्रति उदासीन होता जाता है। अपनी मित्र मण्डली में जहां वह प्राइवेट बातें और सेक्स सम्बन्धी बातें करता है वह अपने मित्रों से पारिवारिक सामाजिक और राजनैतिक बातें भी करता है ।

8. <u>यह एक उमंगपूर्ण कल्पना की अवस्था</u> :–

किशोर अपनी समस्याओं को दूसरों से खुलकर कहता है और उसकी समस्यायें ऐसी होती हैं जिन्हें वह केवल अपने अन्तरंग मित्रों से ही होता जब इन अंतरंग मित्रों से समस्याओं का समाधान नहीं हो पाता है अथवा कुछ अति प्राइवेट् समस्याओं को इन अन्तरंग मित्रों से भी वह नहीं कह पाता है। तब इन समस्याओं के समाधान के लिए तरह–तरह की उपकल्पनायें करता है। उनकी ये कल्पनायें उमंगपूर्ण होती है, ऐसी उमंगपूर्ण कल्पनायें वह एकान्त में कहता है। कभी–कभी जब वह वास्तविक जीवन से निराश होता है, तब इस अवस्था में भी वह अपने उमंगपूर्ण कल्पना लोक में विचरण कर शान्ति और सुख प्राप्त करता है। अत्यधिक कल्पना उनको उमंगपूर्ण बना सकती है।

9. <u>किशोरावस्था शैशवास्था की पुनरावृत्ति है</u> :–

जॉस (H.E.Jones, 1943) के किशोरावस्था को शैशवास्था की पुनरावृत्ति कहा है, क्योंकि किशोरावस्था के अनेक लक्षण शैशवास्था से मिलते–जुलते हैं। शिशुओं की भांति किशोर चंचल होता है। वह अपनी आयु के अनुसार शान्त और स्थित नहीं होती है। शिशुओं की भांति उसे यह भ्रान्ति होती है कि वह दूसरे व्यक्तियों के आकर्षण का केन्द्र है परन्तु बहुधा ऐसा नहीं होता है।

10. किशोरावस्था एक दुःखदायी अवस्था :–

यह ऊपर बताया जा चुका है कि किशोरावस्था में किशोर दूसरों के लिए ही एक समस्या नहीं होती है बल्कि उसे भी अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ता है। भला ऐसी अवस्था में किशोरावस्था सुखदायी कैसे हो सकती है। हरलॉक (1964) में इस सम्बन्ध में लिखा है कि किशोरो के जीवन में खुशियों और हर्ष तो होते हैं। लेकिन इनके साथ–साथ कुण्ठा निराशा और दिल तोड़ने वाली स्थितियां भी आज की संस्कृति में बहुत दिखाई देती हैं, यह देखा गया है कि बाल्यावस्था में बालक अपनी समस्याओं के समाधान इसलिए अधिक सरलता से कर लेता हैं कि उसे उसके परिवार में बहुत अधिक सहायता मिल जाती है, परन्तु किशोरावस्था में उसे इस प्रकार की सहायता प्राप्त नहीं होती है। अतः उसके लिए समस्याएं दुःखदायी हो जाती है। किशोरावस्था के दुःखदायी होने के कई प्रमुख कारण हैं, जैसे–

(i) सामाजिक दबाव : यह देखा गया है कि परिवार और समाज के बड़े–बूढ़े लोग समय–समय पर किशोर पर दबाव डालते हैं। अक्सर संरक्षकों के द्वारा डॉट पड़ती है, आलोचना की जाती है या दण्ड दिया जाता है। इसके साथ इस प्रकार का व्यवहार उसके अध्यापकों द्वारा भी किया जाता है। यह सामाजिक दबाव भी उसके लिए बड़ा दुःखदायी होता है।

(ii) समायोजन सम्बन्धी समस्याएं : यह ऊपर समझा जा चुका है कि किशोरावस्था में समायोजन की अनेक समस्यायें होती हैं। अनेक निकट सम्बन्धियों से कोई विशेष सहायता प्राप्त नहीं होती है, इस अवस्था में समायोजन समस्याएं उनके लिए दुःखदयी हो जाती हैं जोकि फिर प्रत्येक समायोजन में व्यक्ति में कुछ या अधिक मात्रा में चिन्ता अवश्य होती है।

(iii) प्रतिष्ठा का अभाव : किशोरावस्था का बालक सेक्स की दृष्टि से परिपक्व हो जाता है, परन्तु प्रौढ़ व्यक्ति का स्टेट्स प्राप्त नहीं होता है और उसे बालक भी नहीं समझा जाता है। अतः वह बाल्यावस्था की स्वतंत्रताओं का आनन्द नहीं ले पाता है और न वह वयस्क व्यक्ति के अधिकारों और सुविधाओं को ही प्राप्त कर पाता है। इस प्रकार कहा जा सकता है। किशोर स्थिति के अभाव में दुःखदायी स्थिति होती है।

किशोरावस्था में शारीरिक परिवर्तन (Physical Changes is Adolescence)

वयःसन्धि अवस्था की समाप्ति पर शारीरिक विकास पूर्व नहीं हो जाता है। कुछ अध्ययनों (P.C. Marinel vincens, 1960& Scheinfed, 1965) यह सिद्ध किया गया है। लड़कियां किशोरावस्था के प्रारम्भ होने तक अपनी लम्बाई की अधिकतम सीमा तक पहुंच जाती है। परन्तु जिन लड़कियों में विकास की गति मन्द होती है। वे किशोरावस्था के अन्त तक ही अपनी लम्बाई की अधिकतम सीमा तक पहुंच पाती है। इन अध्ययनों में यह भी देखा गया कि किशोरावस्था के प्रारम्भ तक लड़कों की लम्बाई लड़कियों से कुछ अधिक ही हो पाती है। भार में वृद्धि की यही प्रतिमान रहता है। पूर्व किशोरावस्था के अन्त तक बालकों की ज्ञाननेन्द्रियां लगभग परिपक्व हो जाती है। इनके गौण यौन विशेषताएं भी लगभग परिपक्व हो जाती है।

1. <u>आन्तरिक विकास</u> :–

किशोरों में आन्तरिक शरीर विकास को यदि देखा जाय तो कहा जा सकता है कि उनकी लम्बाई और चौड़ाई के अनुपात में ही आन्तरिक अंगों का विकास होता रहता है। बालकों के पाचन तन्त्र में पूर्व किशोरावस्था में तीव्र गति से विकास होता है परन्तु उत्तर किशोरावस्था के अन्त तक इस तन्त्र के विकास की गति मन्द ही नहीं बढ़ती अमाशय की दीवारों की लम्बाई में ही नहीं बढ़ती है। बल्कि वह मोटी भी अधिक होने लगती है कुछ अध्ययनों में यह देखा गया है कि लड़कियां दुबली बनी रहने के लिए कम खाना खाती हैं।

2. <u>गत्यात्मक विकास</u> :–

मांसपेशियों में शक्ति का विकास मांसपेशियों के आकार से सम्बन्धित है। इस दिशा में हुए अध्ययनों से यह स्पष्ट हुआ है कि लड़कों की मांसपेशियों की शक्ति में सर्वाधिक वृद्धि चौदह वर्ष की अवस्था से होती है। परन्तु लड़कियों में चौदह वर्ष तक यह विकास अपनी चरम सीमा पर पहुंच जाती है। लड़कों में बारह से सोलह वर्ष के बीच उनकी शक्ति दुगनी हो जाती है। वयः सन्धि अवस्था में बारह से सोलह वर्ष के बीच उनकी शक्ति को जाती है।

3. <u>स्वास्थ्य अवस्थाएं</u> :–

अध्ययनों में यह देखा गया है कि वयःसन्धि अवस्था की समाप्ति तक किशोरावस्था के किशोरो के स्वास्थ्य में उन्नति होने लग जाती है। कम आयु के किशोरों का ध्यान उनके स्वास्थ्य की ओर नहीं होती है।

किशोरावस्था अन्त तक स्वास्थ्य की अवस्थायें इतनी अच्छी हो जाती है कि इस अवस्था में भी शारीरिक बीमारी से होने वाली मृत्यु दर कम हो जाती है।

4. <u>बाह्य परिवर्तन</u> :–

एक किशोर कितना लम्बा चौड़ा होगा, यह मुख्यतः उसमें वंशानुक्रम खोने–पीने स्वास्थ्य पर्यावरण अवस्थायें तथा खेलने की सुविधायें आदि कारकों पर निर्भर करता है लगभग तेरह वर्ष की अवस्था में लड़के और लड़कियों की लम्बाई में वृद्धि तीव्र गति से होने लग जाती है। लगभग अठारह वर्ष की अवस्था तथा लड़के और लड़कियों की लम्बाई अपनी अधिकतम सीमा तक पहुंच जाती है। इस दिशा में वैयक्तिक भिन्नताएं अधिक होती है। अतः लड़के और लड़कियों के लिए एक निश्चित आयु बताना कठिन है। जिस पर अभी लम्बाई अधिकतम सीमा पर पहुंचती है।

<u>किशोरावस्था की समस्याएँ (Problems of Adolescence)</u>

अध्ययनों के आधार पर कहा गया है कि किशोरावस्था समस्याओं की आयु है। किशोरों की समस्यायें परिवार विद्यालय, स्वास्थ्य, मनोरंजन, भविष्य व्यवसाय विपरीत लिंग के लोगों आदि से सम्बन्धित हो सकती है। ये समस्यायें आर्थिक व्यक्तिगत और सामाजिक आदि किसी भी स्तर की हो सकती है। किशोरावस्था को समस्याओं की आयु इसलिए कहा गया है कि बालक अपने माता–पिता संरक्षकों और अध्यापकों आदि के लिए एक समस्या

होती है तथा साथ ही साथ वह अपनी नई विकास अवस्था के नये रोल्स के साथ समायोजन नहीं कर पाता है, अतः उसमें चिन्ता, उत्सुकता, अनिश्चितता और भ्रान्ति के लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं, यह किसी न किसी रूप में उनके लिए समस्या ही है। इनकी समस्याओं में पर्याप्त मात्रा वैयक्तिक भिन्नताएं भी पायी जाती हैं।

किशोरावस्था में प्रारम्भ में किशोरों की अपेक्षाकृत अधिक समस्याओं का सामना करना पड़ता है, क्योंकि बाल्यावस्था में तो उसे अपनी समस्याओं समाधान के लिए अपने से बड़ों और परिवारजनों की सहायता प्राप्त हो जाती है।

परन्तु इस अवस्था में यह सहायताएं बन्द हो जाती हैं। इस अवस्था में वह यह समझने लग जाता है कि उसके संरक्षक और अध्यापक बूड़े हो गये हैं वे क्या मदद करेंगे, ऊपर बताया जा चुका है कि किशोरों की समस्यायें अनेक प्रकार और अनेक स्तर की हो सकती है फिर भी इन समस्याओं के गार्डनर समस्यायें अनेक प्रकार और अनेक स्तर की हो सकती है फिर भी इन समस्याओं के गार्डनर (G.A. Gardner, 1947) ने मुख्य दो वर्ग बताये हैं–(1) सामान समस्यायें (2) विशिष्ट समस्यायें।

परन्तु गार्डनर के इस वर्गीकरण से इन समस्याओं के अध्ययन में कोई विशेष सहायता नहीं मिलती है। कुछ आधार पर हरलॉक (1947) ने निष्कर्ष निकाला कि किशोरावस्था की अधिकांश समस्याएं मुख्यतः निम्न क्षेत्रों से सम्बन्धित होती है।

शारीरिक दिखावट और स्वास्थ्य से सम्बन्धित अध्ययनों में यह भी देखा गया है कि किशोरावस्था के प्रारम्भ में लड़कों की अपेक्षा लड़कियों की समस्यायें अधिक और उनके लिए चिन्ताजनक होती हैं। एक अध्ययन (ज्ञ.ळ. ब्वतवपेवद 1966) में देखा गया कि जिन परिवारों में प्रजातांत्रिक वातावरण रहता है उन परिवारों में पहले बच्चे की समस्यायें कम जटिल होती हैं तथा जिन परिवारों में वातावरण प्रभुत्वशाली प्रकार का होता है। उन परिवारों में घोषित बच्चों की समस्याएं अपेक्षाकृत अधिक जटिल हुआ करती है। एक अन्य अध्ययन की समस्यायें अपेक्षाकृत अधिक जटिल हुआ करती है। एक अन्य अध्ययन (H.C.Ceuary & L.C. Quay 1965) में देखा गया कि जिन परिवारों में असंतोषजनक परिस्थितियां हो जाती हैं। किशोरावस्था में आयु जैसे–जैसे बढ़ती जाती है। वैसे–वैसे किशोरो की समस्यायें जटिल और अधिक जटिल होती जाती है। अध्ययनों में देखा गया है कि यदि पूर्व के वर्षों में किशोर अपनी समस्याओं की समाधान करने में असफल रहना पड़ता है तो आगे आने वाले वर्षों में भी वे अपनी समस्याओं के समाधान करने में असफल होता है।

कुछ अध्ययनों (K.G. Garrison, 1966) में यह सिद्ध करने का प्रयास किया गया है कि समस्यायें जितनी ही अधिक गम्भीर होती है, किशोर उन्हें दूसरों को बताने और उनका समाधान प्राप्त करने के लिए उतना ही कम प्रयास करता है।

किशोरावस्था के अन्त तक अधिकांश समस्यायें धन सेक्स या शौक्षिक उपलब्धि के सम्बन्ध में ही होती है। अध्ययन आयु के किशोरों के लिए समस्यायें अधिक गम्भीर होती है। कुछ अध्ययनों (J.F. Adoms, 1964) में यह देखा गया है कि इस अवस्था की किशोरावस्था की कुछ गम्भीर समस्यायें व्यक्तिगत आकर्षण पारिवारिक सम्बन्ध और सामाजिक सम्बन्धों से सम्बन्धित होती है। किशोरावस्था में आयु बढ़ने के साथ–साथ

किशोर अपनी समस्याओं में समाधान करना स्वयं सीखतेजाते हैं। फलस्वरूप समय व्यतीत होने के साथ–साथ समायोजन में अच्छे खुशहाल होते जाते हैं।

प्रौढ़ावस्था – विशेषताएं एवं समस्यायें :–

विकास की विभिन्न अवस्थाओं में प्रौढावस्था एक ऐसी अवस्था है जिन पर अनेक क्षेत्रों में वैज्ञानिकों तथा शोधकर्ताओं में अपना ध्यान आकर्षित किया है। विरेन 1964, एरिस्किन 1963, वर्थीड, वलस्टर एवं मोहर्नसेट (1973) आदि । इसके अतिरिक्त प्रौढ़ावस्था पर मनोवैज्ञानिकों ने अतिरिक्त मानव शास्त्री समाज शास्त्री तथा शिक्षा शास्त्री भी अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए अध्ययन करते हैं। इतना अवश्य है कि इन विभिन्न क्षेत्रों से संबंधित शोधकर्ताओं का लक्ष्य तथा विधियां विभिन्न होती है। उससे यह स्पष्ट हो रहा है कि प्रौढ़ावस्था अवश्य ही एक महत्वपूर्ण विकासात्मक अवस्था है।

प्रौढ़ावस्था का अर्थ (Meaning of Adulthood) :–

प्रौढ़ावस्था जिसका अंग्रेजी रूपान्तरण Adulthoo है की से हुई है। उत्पत्ति लैटिन भाषा के एडल्ट्स (Adultus) से हुई है। इसका तात्पर्य पूरी तरह से विकसित होने या परिपक्व होने से है। इस तरह प्रौढ़ व्यक्ति वे होते हैं जो अपनी वृद्धि को पूरा कर चुके होते हैं कि अपने संस्थिति को समाज में पहचानने का प्रयास करते हैं तथा दूसरे प्रौढ़ों से सम्पर्क स्थापित करते हैं। विभिन्न संस्कृति में प्रौढ़ होने को विभिन्न आयु से जाना जाता है, कुछ संस्कृति में 18 वर्ष तथा कुछ में 21 वर्ष की आयु के प्रौढ़ की आयु माना जाता है। इसका कारण यह भी है कि उस अवस्था में इस आयु तक वैधानिक परिपक्वता उन्हें प्राप्त हो जाती है तथा वे चुनाव में अपना मत प्रकट कर सकते हैं। प्रौढ़ावस्था एक लम्बी अवधि का होता है।

प्रौढावस्था की अवधियां (Periods of Adulthood) :–

प्रौढ़ावस्था के स्वरूप का वर्णन करते समय यह स्पष्ट किया जा चुका है कि प्रौढ़ावस्था की अवधि काफी लम्बी होती है। प्रारम्भिक वर्षों में परिवर्तन की गति तीव्र तथा माध्यम और अंतिम अवधि के वर्षों में परिवर्तन की गति भी कुछ मन्द होती है।

1. प्रारम्भिक प्रौढ़ावस्था :– किशोरावस्था के अंतिम अवधि के ठीक एक साल बाद यह अवस्था शुरू हो जाती है, इस अवस्था का विस्तार 21 से 40 वर्ष तक माना जाता है। इस अवस्था में शारीरिक एवं मनोवैज्ञानिक परिवर्तन तीव्रगति से होते हैं। इस अवधि में प्रौढ़ के लैंगिक क्रियाओं में भी परिवर्तन दिखाई पड़ता है, वह एक ज्यादा ही पूर्ण व्यक्तित्व का होता है। पूरी शरीर में तीव्रता परिपक्वता झलकती है। 20–30 वर्ष की आयु में मांसपेशियों में हड्डियों में पूर्ण विकास हो चुका रहता है।

2. मध्यावस्था :– इस अवस्था का विस्तार 40–60 वर्ष का होता है। इस शारीरिक एवं मनोवैज्ञानिक विशेषताओं में हास होता है। मध्यावस्था पूरे जीवन विस्तार में लम्बी अवधि का होता है। इसे प्रायः दो भागों में बांटा गया है।

1. प्रारम्भिक मध्यावस्था (Early Middle Age)– जिसका विस्तार 40–50 वर्ष तकहोता है तथा

2. उत्तरमध्यावस्था (Later Middle Age)– जिसका विस्तार 50–60 वर्ष तकमाना गया है। इस अवस्था में जो शारीरिक और मानसिक परिवर्तन देखने को मिलते हैं। वे विशेषतया प्रारम्भिक मध्यावस्था से भिन्न होते हैं। इस अवस्था में भी नयी–नयी भूमिकाओं का निर्वाह करना पड़ता है। शारीरिक एवं मानसिक क्षमता में कमी आती है।

3. वृद्धावस्था :– उत्तर प्रौढ़ावस्था का वृद्धावस्था की शुरूआत 60 वर्ष से होती है तथा तब तक मानी जाती है जब तक प्रौढ़ की मृत्यु न हो जाये। इस समय शारीरिक एवं मनोवैज्ञानिक क्षमताओं में तीव्रगति से हास हो जाता है। लोग बूढ़ा कहकर पुकारना शुरू कर देते हैं। शारीरिक शक्ति का ह्रास होता है, चेहरे पर झुर्रियां नजर आने लगती हैं। वृद्धावस्था जीवन विस्तार की अंतिम अवस्था या विकास अवस्था है। 60 वर्ष की आयु मध्यावस्था एवं वृद्धावस्था की विभाजन रेखा है। इस अवधि को क्रमशः दो भागों में बांटा गया है–

1. प्रारम्भिक वृद्धावस्था इसका विस्तार 60–70 वर्ष तक होता है।

2. दूसरी अवस्था – उच्च वृद्धावस्था होता है उसका विस्तार 70 वर्ष से मृत्यु तक माना जाता है।

प्रारम्भिक प्रौढ़ावस्था की विशेषताएँ (Characteristics of Early Adulthood)

प्रारम्भिक प्रौढावस्था जीवन के नये सहयोगियों के साथ तथा नयी सामाजिक प्रत्याशाओं के अनुरूप समायोजन की अवस्था है। नव प्रौढ़ से यह आशा की जाती है कि नये भूमिकाओं का निर्वाह करें। इन भूमिकाओं में पति–पत्नी या माता–पिता तथा अभिभावक की भूमिकाएं प्रमुख हैं। इस अवस्था में नई अभिवृत्तियां नये सामाजिक मूल्य तथा नई रूचियों का उद्‌भव होता है।

1. प्रारम्भिक प्रौढ़ावस्था बन्दोबस्त की अवधि के रूप में :– ऐसा कहा जाता है कि बाल्यावस्था और किशोरावस्था परिपक्व होने की अवस्था है, परन्तु प्रारम्भिक प्रौढ़ावस्था बन्दोबस्त अवधि के रूप में जानी जाती है। इस अवस्था में पुरुष तथा महिलाएं जब वैसार्गिक परिपक्वता को प्राप्त कर लेती है। तब उनकी आजादी एवं स्वतंत्रता का समय जाता हुआ दिखाई देता है तथा जिम्मेदारी पूर्ण व्यवहार करने का समय आता है। इस अवस्था में वह अपने जीवनशैली का चयन करता है।

2. प्रारम्भिक प्रौढ़ावस्था सन्तानोत्पत्ति की अवधि के रूप में –प्रायः अधिकतर प्रौढ़ अवस्था में माता–पिता बनने की सोचते हैं जिनकी शादियां उत्तरकिशोरावस्था तक हो जाती है वे प्रारम्भिक प्रौढ़ावस्था में माता–पिता की भूमिका के निर्वाह में लग जाते है । प्रायः 20–30 वर्ष की आयु में वे माता–पिता तथा कुछ लोग 40 वर्ष की आयु तक पितामह तथा पितामही बन जाते हैं। जो लोग जब तक शादी नहीं करते हैं तब तक उनकी शैक्षिक अभिरूचियां पूरी न हो जाये वे माता–पिता बनने की भी नहीं सोचते हैं। उनके लिए कैरियर महत्वपूर्ण होता है।

3. प्रारम्भिक प्रौढ़ावस्था समस्या की अवधि के रूप में – इस अवस्था में अन्य अवस्थाओं की तुलना में समस्याएं अधिक होती हैं। वैधानिक परिपक्वता की आयु 18 वर्ष होने के कारण ज्यादातर प्रौढ़ इन समस्याओं से जो इस अवस्था में होती है उसके समाधान में अपने को असहाय एवं असमर्थ पाते हैं। इस अवस्था में वे बिना माता–पिता की स्वीकृति के शादी करते हैं तथा उन्हें वोट देने का भी अधिकार मिल जाता है। इस अवस्था में वे काफी स्वतंत्र होते हैं तथा यह स्वतंत्रता उन्हें नई समस्याएं पैदा करती है। उनमे माता–पिता बनने की समस्या, शादी की समस्या एवं रोजगार की समस्या प्रमुख होती है। 30–40 वर्ष की अवधि पारिवारिक संबंधों से जुड़ी होती हैं। (Gould , 1975)

4. प्रारम्भिक प्रौढ़ावस्था सांवेगिक तनाव की अवधि के रूप में :– इस अवस्था में सांवेगिक तनाव भी देखा जाता है। इस अवस्था में प्रौढ़ लोग क्रोध, प्रेम, व्यवहार आदि का प्रदर्शन करते हैं। इस अवस्था में माता–पिता की भूमिका का निर्वाह करने में वे काफी तनाव ग्रस्त लगते हैं। पारिवारिक संबंधों के विस्तार में भी काफी चिन्हित रहते हैं, बहुत से प्रौढ़ 30 वर्ष की आयु में अपनी समस्याओं का समाधान स्वयं कर लेते हैं तथा वे शांत एवं सांवेगिक रूप से स्थिर दिखायी देते हैं। 20–30 वर्ष की आयु में सांवेगिक तनाव ज्यादा प्रदर्शित होता है तथा उस अवधि में प्रौढ़ का समायोजन संतोषजनक नहीं होता है।

30 वर्ष की आयु में जब तनाव प्रदर्शित होता है तो प्रौढ़ प्रायः आकुलता लिए हुए रहते हैं। इनकी आकुलता का संबंध उनके समस्याओं या समाधान के न होने से होता है।

5. प्रारम्भिक प्रौढ़ावस्था सामाजिक अलगाव के अवधि के रूप में – औपचारिक शिक्षा समाप्त होने पर तथा प्रौढ सम्मत प्रतिमान में प्रवेश करने पर तथा समकक्ष समूहों के सदस्यों से विवाह रचाने पर उसका सामाजिक सम्पर्क घर से बाहर के लोगों से होता है। परिणामस्वरूप बचपनावस्था से पहली बार अधिक चर्चित व्यक्ति सामाजिक अलगाव का अनुभव करने लगता है। इसे एरिकशन सामाजिक अलगाव की संज्ञा दी है।

6. प्रारम्भिक प्रौढ़ावस्था प्रायः पराश्रितता की अवधि के रूप में – वैधानिक परिपक्वता प्राप्त हो जाने के बाद भी ज्यादातर प्रौढ़ अपने प्रारम्भिक काल में एक दूसरे पर आश्रित रहते हैं। आंशिक या पूर्णरूप से वे अपने माता–पिता पर या इस शिक्षण संस्था पर जहां वे शिक्षा ग्रहण करते हैं तथा वहां पर सरकारी संस्थाओं पर जिससे वे अपने योजनाओं को परिचित करने के लिए ऋण आदि लेते हैं तथा उन पर आश्रित रहते हैं।

7. प्रारम्भिक प्रौढ़ावस्था मूल्य परिवर्तन की अवधि के रूप में – बहुत सारे मूल्य जो बाल्यावस्था और किशोरावस्था की अवधि में विकसित हुए रहते हैं उनमें काफी परिवर्तन होता है तथा प्रौढ़ावस्था में नये मूल्यों का अर्जन तथा पुराने मूल्यों का परिमार्जन होता है। बाल्यावस्था में जो उसे स्कूल जाना बुरा लगता था वहीं स्कूल अब सामाजिक और व्यावसायिक संस्थिति हेतु महत्वपूर्ण बन जाता है। आत्मसमर्थता की भावना विकसित होती है।

वृद्धावस्था की समस्यायें किन

भूमिका :–

वृद्धावस्था 45 वर्ष की आयु से प्रारम्भ होकर जीवन के अन्त तक चलती है, कुछ विद्वान इस अवस्था को 45 वर्ष से कार्य मुक्ति तक मानते हैं मानव जीवन की अवस्थाओं में वृद्धावस्था का एक महत्वपूर्ण व विशिष्ट स्थान है। इसी कारण वृद्धावस्था के अध्ययन के लिए एक विशिष्ट शास्त्र ज्ञान का विकास किया गया है, जिसे वृद्धों के विषय विज्ञान के रूप में जरविद्या की संज्ञा दी गई है और इनकी शारीरिक व मानसिक स्वास्थ्य की रक्षा एवं चिकित्सा के लिये जरा चिकित्सा की उत्पत्ति हुई है। इस ज्ञान के अन्तर्गत वृद्धों की शारीरिक स्थिति एवं स्वास्थ्य का अध्ययन एवं संबंधित समस्याओं का निदान व उपचार किया जाता है।

वृद्धावस्था में बाल्यावस्था की विशिष्टताओं का पुनः उदय होता है, जिस प्रकार बाल्यावस्था में बच्चे मान्यता प्यार सुरक्षा की प्राप्ति करना चाहते हैं और सुखवादी भावनाओं एवं आनंद की प्राप्ति की इच्छाओं से ओतप्रोत होते हैं उसी प्रकार इस अवस्था में वृद्ध श्रृद्धा मान्यता सुरक्षा तथा दूसरों से प्रेम पाने का अभिलाषी होता है। वृद्धावस्था में व्यक्ति सुख व आनंद की अत्यधिक अपेक्षा करता है। वृद्ध बच्चों की भांति स्वादिष्ट आहार तथा अन्य वस्तुओं का बारंबार सेवन करना चाहता है। बच्चों की भांति ही वृद्ध भी शारीरिक श्रम में असमर्थ होते हैं वे शरीर काल की अनेक घटनाओं को सुनता है। जिसमें वे अपने को अभिनेता व हीरो के रूप में प्रस्तुत करते है साथ ही वर्तमान परिस्थितियों केवे अयोग्य व क्षीण सिद्ध करने का प्रयास करते हैं।

वृद्धावस्था की समस्यायें

शारीरिक प्रज्ञात्मक मानसिक, मनोवैज्ञानिक एवं सांवेगिक तथा सामाजिक पक्षों व विशेषताओं के अध्ययन से वृद्धावस्था की अनेक समस्यायें सामने आती हैं जिन्हें मुख्य रूप से सामाजिक मनोवैज्ञानिक एवं सांवेगिक क्षेत्रों में वर्गीकरण करके निम्नलिखित रूप से स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

समाजशास्त्रीय शक्तियां :–

1. आवासीय समस्या :–

इस अवस्था में आवास की एक गम्भीर समस्या होती है वृद्ध व्यक्ति का परिवार बढ़ जाता है। पुत्र पौत्र पौत्री तथा अन्य वृद्ध हो जाती है यदि किराये का घर होता है तो हर माह किराया देने या घर बदलने की समस्या आती है। संयुक्त परिवार व्यवस्था में तीन–तीन पीढ़ियां निवास करती हैं जहां पर्दे की प्रथा होती है। वहां बृद्ध का रहन–सहन प्रतिबन्धित हो जाता है।

2. पदमुक्ति :–

पद मुक्ति हो जाने पर व्यक्ति अपने आपकों असमर्थ व अयोग्य समझने लगता है उसका सामाजिक सम्बन्ध मान–मर्यादा एवं आर्थिक स्वतंत्रता बाधित हो जाती है इस

कारण एकाकीपन एवं तिरस्कृत होने की समस्या आ जाती है। पदमुक्त होने पर वृद्ध में आगे बढ़ने सीखने तथा कुछ करने की लगन का ह्रास हो जाता है।

3. सामाजिक परात्रियता :–

वृद्धावस्था में व्यक्ति शारीरिक व मानसिक क्षीणता तथा आर्थिक हीनता के कारण जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में पुत्र–पौत्र या अन्य सम्बन्धियों पर आश्रित हो जाता है। अनेक क्रियाकलापों का निर्वाह स्वयं करने में असमर्थ हो जाता है, जिसके कारण दूसरों पर निर्भर होना पड़ता है।

4. असहाय की भावना :–

इस अवस्था में शारीरिक मानसिक क्षीणता ज्ञानेन्द्रियों की क्षमता में इस विभिन्न रोग शारीरिक गुड़वत्ता आदि के कारण व्यक्ति असहायवस्था की स्थिति उत्पन्न हो जाती है जिसके स्वरूप उसकी अनेक इच्छाओं व आवश्यकताओं की पूर्ति कठिनाई होती है।

5. सामाजिक सम्बन्धों की कमी :–

वृद्धावस्था में व्यक्ति की विविधयां सीमित हो जाती है। अनेक क्षेत्रों में वह निष्क्रिय हो जाता है। उसके मित्रों के सामने भी नई समस्या रहती है कई मित्रों व सम आयु सम्बन्धियों का देहान्त इस कारण उसके सामाजिक सम्बन्धों पर प्रभाव पड़ता है। वह अकेला हो जाता है। सामाजिक सदभावना का अभाव हो जाता है।

6. सामाजिक तिरस्कार :–

सामान्यतः वृद्धावस्था में व्यक्ति का सामाजिक सम्बन्धों व क्रियाओं में शिथिलता आ जाती है। जिसके कारण वह अपने को बहिष्कृत समझने लगता है उसके आदर्शों, मूल्यों या धारणाओं को मान्यता नहीं दी जाती, जिससे निराशा तनाव की स्थिति उत्पन्न हो जाती है तथा इस आधार पर सामाजिक तिरस्कार के आधार पर वृद्धों का मन विचलित हो जाता है तथा वैसे ही वे अपने को सामाजिक त्रिस्कार समझते हैं।

मनोवैज्ञानिक शक्तियां :–

1. परिपक्वता :–

इस अवस्था में व्यक्ति अपने पूर्णरूप से परिपक्व एवं अनुभवी मानता है क्योंकि उसकी सम्पूर्ण आवश्यकतायें बीत चुकी होती है कुछ वृद्धजनों में यह भावना अत्यधिक दृढद्ध व कठोर होती है वे समझते हैं कि प्रत्येक मामले में उनका निर्णय शत–प्रतिशत शुद्ध है यह स्थिति समस्या ग्रस्त व्यक्तियों में अधिक होती है, जबकि सामान्य वृद्धों में दृढद्ध व कठोरता की धारणा अपेक्षाकृत कम होती है।

2. असुरक्षा की भावना :–

इस काल में सामान्य रूप से असुरक्षा की भावना का विकास होता है, परन्तु सामान्य जनों में यह भावना बहुत अधिक विकसित नहीं होती जबकि जटिल स्थितियों के

वृद्धों एवं अधिक शारीरिक व मानसिक रूप से शिथिल व बाधित व्यक्तियों में असुरक्षा की भावना विकसित हो जाती है जो समस्या का रूप धारण कर लेती है।

3. पराश्रियता या आत्म निर्भरता :–

प्रारंभिक अवस्थाओं के पश्चात आत्मनिर्भरता अथवा पराश्रियता की भावना वृद्धावस्था में पुनः भीषण रूप धारण कर लेती है वृद्ध की शारीरिक असमर्थता उसके लिए एक क्रूर अनुभव होता है उसमें इस कारण और भी अधिक चिन्ता होती है कि अब वह पूर्णरूप से परिपक्व व अनुभवी है फिर भी उसे दूसरे का सहारा लेना पड़ता है तथा आत्म निर्भरता समाप्त हो चुकी है।

4. मान्यता का ह्रास :–

सामान्यतः अधिकांश भारतीय परिवारों व समुदाय में बृद्धजनों को एक अनुभवी श्रद्धेय के रूप में स्वीकार किया जाता है, मगर कभी–कभी कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में मान्यता कम हो जाती है।

सांवेगिक समस्या :–

1. तिरस्कार की भावना :–

इस अवस्था में जब व्यक्ति देखता है कि अन्य प्रौढ़ व किशोर अपनी अपनी सम आयु के लोगों के साथ विभिन्न गतिविधियों में लीन है तथा आनंद प्राप्त कर रहे हैं, ऐसे में उनके अन्दर तिरस्कार की भावना जाग्रत हो जाती है।

2. प्यार :–

इस काल में वृद्धजन जिन मित्र संबंध या पुत्री–पौत्रों आदि को अत्यधिक प्यार करते हैं इस प्यार की स्थिति में अपने स्नेह के पात्रों की त्रुटियों तथा नकारात्मक पक्षों पर भी ध्यान नहीं देते हैं।

निष्कर्ष :–

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट हो जाता है कि वृद्धावस्था में बाल्यावस्था की विशिष्टताओं का पुनः उदय होता है तथा वृद्धावस्था में अनेक प्रकार की सामाजिक आर्थिक, मानसिक व शारीरिक समस्यायें होती है तथा वृद्धावस्था में कई इच्छायें व आवश्यकतायें भी होती हैं इसके अतिरिक्त वृद्धावस्था में अनेक प्रकार की विषम परिस्थितियों का सामना भी करना पड़ता है।

वृद्धावस्था की मुख्य समस्याएँ
(MAJOR PROBLEMS OF OLD AGE)

वृद्धावस्था में उत्पन्न होने वाली उन शारीरिक, मानसिक, सामाजिक तथा आर्थिक समस्याओं को नकारा नहीं जा सकता जिसका सामना वृद्धजनों को किसी न किसी सीमा

तक अवश्य करना पड़ता है। व्यावसायिक जीवन से अवकाश के बाद तो वृद्ध व्यक्ति प्रायः ऐसा समझने लगता है मानो वह आर्थिक दृष्टि से बिल्कुल दूसरों पर ही निर्भर है। अनेक वृद्धजनों में यह धारणा घर कर लेती है कि समाज व परिवार में उनकी कोई उपयोगिता और आवश्यकता नहीं रह गयी है। अतः बुढ़ापे में एक प्रकार का उदासीनता का भाव भी विकसित होने लगता है। परन्तु जिन वृद्धजनों की सामाजिक और आर्थिक स्थिति जितनी उत्तम होती है और जो अपने को समाज व परिवार के लिए जितना उपयोगी समझते हैं उन्हें उतनी ही अधिक प्रसन्नता और मानसिक सन्तुष्टि का अनुभव होता है।

वृद्धावस्था में शारीरिक और मानसिक शक्तियों का ह्रास बड़ी तीव्र गति से होता है। शारीरिक क्षमता, शक्ति, प्रतिक्रिया की गति में भी मंदता आ जाती है। वृद्धजनों की रूचियों और मनोवृत्तियों में भी महत्वपूर्ण परिवर्तन देखने को मिलता है। सामान्य बौद्धिक योग्यता रचनात्मक चिन्तन तथा सीखने की क्षमताएं भी शिथिल पड़ जाती है। वृद्धावस्था में स्मरण शक्ति का तेजी से लोप होने लगता है। वृद्धजनों की रूचियां संख्या में घट कर कम हो जाती हैं और उनके लिए उच्चकोटि की उपलब्धियां प्रायः असंभव हो जाती है। वृद्धावस्था में व्यक्ति का सामाजिक संपर्क प्रायः सीमित हो जाता है और वह सामाजिक कार्यक्रमों में भाग नहीं ले पाता। वृद्धावस्था की कुछ अधिक गम्भीर समस्या का उल्लेख किया गया है।

1. <u>शारीरिक क्षति (Physical Impairment)</u> :–

यह सर्वविदित है कि आयु के साथ व्यक्ति के भीतर शारीरिक स्तर पर अनेक परिवर्तन उत्पन्न होते रहते हैं, वृद्धावस्था में प्रवेश करने से व्यक्ति की रूपरेखा इतना अधिक परिवर्तित हो जाती है कि उसे देखकर आश्चर्य होता है। व्यक्ति के गालों पर झुर्रियां पड़ जाती हैं, चेहरा सिकुड़कर छोटा हो जाता है, बाल सफेद हो जाते हैं दांत गिरने लगते हैं तथा शरीर का भार कम हो जाता है। कर्मेन्द्रियों की ही भांति वृद्ध व्यक्ति की ज्ञानेन्द्रियां भी पहले की तरह काम नहीं कर पाती हैं। आंख की रोशनी कम हो जाती है और आंखों में प्रायः मोतियाबिन्द विकसित हो जाता है। रस एवं गंधसंवेदना भी मंद हो जाती है। वृद्ध व्यक्तियों को ठण्डक और गर्मी भी अधिक अनुभव होती है।

शारीरिक शक्ति में शीघ्रता से ह्रास होने लगता है और कुछ वृद्धजनों को लाठी का सहारा लेकर चलना पड़ता है। हड्डियों में लचीलापन समाप्त हो जाता है और मांसपेशियां शिथिल पड़ जाती है।

उपरोक्त ये सभी दशाएं वृद्धों को धीरे–धीरे ही विकसित होती है और उन वृद्धों में अधिक देखने को मिलती है जो वृद्धावस्था को अनियमित रूप से व्यतीत करते हैं। अपनी दिनचर्या के नियमन द्वारा अनेक अक्षमताओं एवं व्याधियों से बचा जा सकता है, संतुलित आहार, भोजन की मात्रा घटाकर, शारीरिक विश्राम, नियमित टहलने और व्यायाम की दिनचर्या में शामिल करके वृद्धावस्था को यथासंभव सुखी और सुरक्षित बनाये रखा जा सकता है।

2. <u>मानसिक ह्रास (Mental Deterioration)</u> :–

वृद्धावस्था में सीखने की योग्यता में बहुत अधिक हास हो जाता है और उसके लिए नई क्रियाओं को सीख पाना कठिन हो जाता है। स्मृति की क्षमता भी क्रमशः मंद पड़ने

लगती है। विशेषज्ञों के अनुसार 60 वर्ष के बाद व्यक्ति की बौद्धिक क्षमता में थोड़ी गिरावट आ जाती है। इसके अतिरिक्त, वृद्धावस्था में विषम परिस्थितियों के कारण मानसिक तनाव, अर्न्तद्वन्द, कुण्ठा, चिन्ता, अप्रसन्नता का अनुभव होना तो साधारण बात है।

75 वर्ष के आसपास कुछ वृद्धों में एक विशिष्ट प्रकार का मानसिक हास दिखलाई पड़ता है जो मस्तिष्क के क्षतिग्रस्त हो जाने का लक्षण माना जाता है। इस दशा की सेनाइल डिमेन्शिया के रूप में पहचान की गई है और इसे वृद्धावस्था में विकसित होने वाली मनोविक्षिप्तता का एक प्रकार माना जाता है। इन रोगियों का वास्तविकता से सम्पर्क टूट जाता है और उनमें स्मृतिलोप, अनिंद्रा, बेचौनी, उदासी के लक्षण देखे जाते हैं।

3. सामाजिक समायोजन (Social Adjustment) :–

वृद्धावस्था में व्यक्ति परिवर्तित परिस्थितियों के अनुरूप अपने को उपयुक्त तरीके से समायोजित नहीं कर पाता है, इस अवस्था में व्यक्ति का सामाजिक परिवेश संकुचित होकर प्रायः उसके परिवार और पड़ोस तक ही सीमित हो जाता है। परिवार युवा एवं वृद्ध व्यक्तियों के बीच जनरेशन गैप हो जाता है, जिसके कारण वैचारिक मतभेद उभरकर सामने आते हैं। परन्तु जो वृद्धजन पढ़े–लिखे तथा समझदार होते हैं। वे शीघ्र ही अपने छोटों के साथ मित्रवत बन जाते हैं। विदेशों में वृद्धों के लिए नर्सिंग होम की व्यवस्था की जाती है, वहीं अपने देश में वृद्धजन संयुक्त परिवारों रहकर ही सदस्यों से सेवा और सम्मान प्राप्त करते रहते हैं।

4. अभिवृत्तियां और रूचियां (Attitudes and Interests) :–

व्यक्ति के अधिकांश व्यवहार व क्रिया–कलाप उसके भीतर पाई जाने वाली अभिवृत्तियों का स्वरूप ही अद्‌भुत होता है परन्तु जीवन की मध्यावस्था और वृद्धावस्था में प्रवेश करते ही उनमें ऐसा परिवर्तन आ जाता है जिसकी कल्पना करना कठिन है। इन अवस्थाओं में रूचियां न केवल संख्या में कम हो जाती है बल्कि उनकी प्रबलता भी घट जाती है। कहा जाता है कि किशोरावस्था में व्यक्ति के भीतर असंख्य रूचियां पाई जाती है और उनके मित्रों की संख्या सर्वाधिक होती है। इसके विपरीत बृद्धावस्था में व्यक्ति की सामाजिक रूचियों में कमी आ जाती है और उनके मित्रों की संख्या सीमित रह जाती है। अपने परिवार में पुत्र पुत्रियों के विवाह, उनकी नौकरी तथा मकान की समस्याओं में वृद्ध व्यक्ति रूचि प्रदर्शित करता है। वृद्ध व्यक्तियों में रूचि सबसे अधिक अपने स्वास्थ्य और रूपये पैसे में होती है, भले ही वे सक्रिय रूप से वे धन कमाने योग्य नहीं रह जाते है। वृद्धावस्था में व्यक्ति मुख्य रूप से प्रसन्नता और सुख की तलाश करता है और उसकी रूचियां इन्हीं से संबंधित होती हैं।

5. व्यावसायिक शून्यता (Occupational Vacuum) :–

वृद्धावस्था के अनेक शारीरिक, मानसिक, सामाजिक संकटों के बावजूद अनेक वृद्धजन अपनी क्षमता के प्रकाशन और प्रदर्शन का अवसर ढूंढ़ते हैं। वे स्वयं को ऐसे उत्पादक और रचनात्मक कार्यों से जोड़ना चाहते हैं जिनके लिए उनके भीतर क्षमता निहित होती है और जिनका उन्होंने विगत वर्षों में अनुभव अर्जित किया है। इससे वे धन अर्जित तो करते ही हैं। साथ ही उन्हें सम्मान के साथ जीवन–यापन का गौरव भी प्राप्त होता है।

किसी व्यवसाय के साथ स्वयं को जोड़ लेने के बाद वृद्ध व्यक्ति आर्थिक रूप से सुरक्षित महसूस करने लगता है और उसकी अनेक चिन्ताओं का अन्त हो जाता है। उसकी दिनचर्या सुनिश्चित हो जाने के कारण वह न केवल शारीरिक बल्कि मानसिक रूप से भी एक सीमा तक स्वस्थ हो जाता है और उसे प्रसन्नता और मनोवैज्ञानिक संतुष्टि का अनुभव होने लगता है।

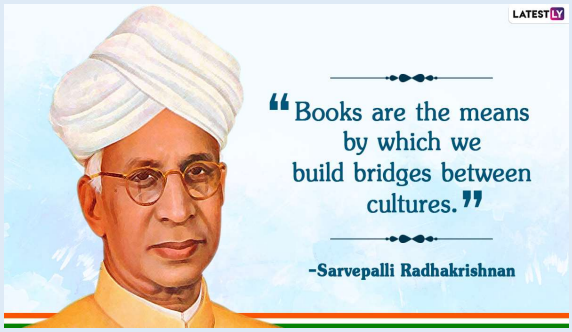

Center for Distance Learning & Continuing Education
MAHATMA GANDHI CHITRAKOOT GRAMODAYA VISHWAVIDYALAYA
Chitrakoot, Satna (M.P.) 485334
E-mail : directordistancemgcgv@gmail.com